

आलोक प्रज्ञा का

युवाचार्य महाप्रज्ञ

आलोक प्रज्ञा का

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुवादक/संपादक
मुनि राजेन्द्रकुमार

प्रकाशक : जैन विश्व भारती

लाडनू-३४१३०६ (राज०)

प्रथम संस्करण : फरवरी, १९९२

मूल्य : ५.०० रुपये

मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनू-३४१३०६

प्रस्तुति

योगक्षेम वर्ष में सर्वाधिक शक्तिशाली स्वर गूँजता था, वह है प्रज्ञा । प्रज्ञा स्वयं आलोक है । वह दूसरे को आलोकित करती है, इसलिए कहा जाता है प्रज्ञा का आलोक । सूर्य स्वयं आलोकित है, इसलिए वह जगत् को आलोकित करता है । प्रज्ञा जागरण के लिए आवश्यक है—तपस्या, साधना, अनुशासन और निष्ठा । इन सबके समुच्चय का नाम ही था योगक्षेम वर्ष । उस वर्ष में जो कहा, वह कभी-कभी श्लोक बनाकर कहा । प्रस्तुत पुस्तक में वे ही श्लोक संकलित हैं ।

मुनि राजेन्द्रजी ने उस संकलन का सानुवाद संपादन किया है । इससे पाठक लाभान्वित हो सकेगा ।

२१ जनवरी ६२
जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राज०)

युवाचार्य महाप्रज्ञ

स्वकथ्य

- महाप्रज्ञ मानते हैं
बुद्धि को

अर्जित-संचित कोष
रिक्त होने पर अन्त में बचता
केवल अन्तस्तोष
इसीलिए

प्रज्ञा जागरण ही
है नितान्त निर्दोष
वही है

अक्षय शाश्वत कोष

- योगक्षेम वर्ष

उसी की निष्पत्ति
अनुपम सफल प्रयोग
प्रस्फुटन हुआ
प्रज्ञासूत्रों का
मिला नया अवबोध
हो जीवन में उपयोग

- प्रस्तुति है प्रज्ञासूत्रों की
सानुवाद सुबोध
बिखरे

प्रज्ञा का उद्योत
बने निमित्त

प्रज्ञा जागरण में
प्रज्ञा का आलोक

मुनि राजेन्द्रकुमार

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
मंगल	१
धर्म का लक्षण कैसे सुनें ?	
अनुशासन : एक विमर्श	२
गुरु और शिष्य का संबंध तितिक्षा की कसौटियां	३
दुर्लभ संयोग स्वतंत्रता की सीमा	४
धर्म का आदि-बिन्दु ज्ञान क्या ?	५
सत्य की अनुभूति प्रस्थान में बाधा	६
कपिल की संबोधि रूपान्तरण कैसे ?	७
एक : अनेक शाश्वत अशाश्वत का विवेक	८
अपराध और उसका निवारण आत्मा से लड़ो	१०
आकर्षण क्यों ? इच्छा : व्यक्त-अव्यक्त	११
प्रमत्त : अप्रमत्त अतीत और वर्तमान	१२
परोक्षज्ञान और समाधि	

आठ

भावक्रिया : द्रव्यक्रिया	१३
प्रतिक्रिया क्यों ?	१४
मिताहार और मौन	
सर्वांगीण शिक्षाप्रणाली	१५
पूजा करें बहुश्रुत की	१६
जातीय घृणा	
कर्मणा जाति	१७
यज्ञ आदि का आध्यात्मिकीकरण	
जन्म है कर्माधीन	१८
सत्य या भावविप्लव ?	
चाहभेद क्यों ?	१९
अध्यात्म का अवतरण ?	
मान्यता और धारणा	२०
तुलनात्मक अध्ययन का गुर	
महान् आश्चर्य	२१
मौलिक मनोवृत्ति	
कहां हूं ?	
ब्रह्मचर्य की सिद्धि	२२
प्रेक्षा : परा और अपरा	
महान् बनने का सूत्र	
अभय कौन ?	२३
कलाओं का ज्ञाता कौन ?	२४
धारणा की पुष्टि	
देहस्थ : आत्मस्थ	
अपना वर्णन अपने द्वारा	२५

कायोत्सर्ग	२६
भेदरेखा कहां ?	
धीर कौन ?	२७
संघर्ष के बीज	
उपादान और निमित्त	
संघबद्ध साधना का अधिकारी	२८
धर्म का सत्य	
अनुभव कैसे जागे ?	
मन का संचालक कौन ?	२९
योगी और भोगी ?	
समर्थ कौन ?	३०
सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा	
यह भी सोचो	
चारित्र्य का स्रोत	३१
जीभ का संयम	
आचार-शास्त्र	३२
नियामक कौन ?	
हिंसा : प्रमाद या वध ?	३३
इच्छा के दो रूप	
भोग : आसक्ति और मात्रा	३४
कर्म से कौन बंधता है ?	
सुख-दुःख किसे ?	३५
दुःख का चक्र	
जो सहता है वही रहता है	
परम सुख ?	३६

दस

समाधि का मूल्य	
कौन भीतर ? कौन बाहर ?	३७
संविभाग की सिद्धि	
श्रेय और प्रेय	३८
अन्तरात्मा : बहिरात्मा	
राग : विराग	३९
श्रुत और समाधि	
ज्ञान और क्रिया	४०
आत्मदर्शी	
दोहरी मूर्खता	४१
अहिंसा का शस्त्र	
सार क्या है ?	४२
कौन कब ?	
विभिन्नमतयो लोकाः	४३
भाव और भाषा	
तब आदमी जागता है	४४
दुर्लभ : सुलभ	
श्रुत की परम्परा	
श्रुत क्यों ?	४५
वचन की संपदा	
सत्य के दो प्रकार	
सुख के प्रकार	४६
सुख किसमें ?	
आत्मकर्तृत्ववाद	
मुख्य कौन—ज्ञान या आचार ?	४७

अनेकान्तवाद	४८
भाषाविवेक	
सब कुछ कहा नहीं जाता	४९
पुरुषार्थ चतुष्टय	
धर्म के दो रूप	५०
उपासना क्यों ?	५१
णमोक्कारो परमं मंगलं	
तंत्र : मंत्र	५२
तुलसी का गौरव	
अध्यात्म की चतुष्पदी	५३
सुख-दुःख का मूल	
अध्यात्म का सूत्र	५४
स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र	
मानसिक संतुलन के घटक	५५
हृदय-परिवर्तन	
दिग्गज कैसे ?	५६
मर्यादा का आधार	५६
तेरापंथ का नेतृत्व	
छोटा कौन ? बड़ा कौन ?	
धर्म और शासन	६०
संगठन के सूत्र	
पहली शताब्दी का तेरापंथ	
अहंकार-विसर्जन	६१
अनुशासन का पालन	
मान्य कौन ?	६२

बारह

अनुशासन की त्रिपदी

६३

गण का संवर्धन

प्रशिक्षण

संघीय और वैयक्तिक प्रवृत्तियां

६४

प्रज्ञा के सूत्र

मंगल

१. अहिंसा मंगलं श्रेष्ठं, संयमो मंगलं वरम् ।
तपस्या मंगलं वर्यं, वीरेण प्रतिपादितम् ॥

भते ! श्रेष्ठ मंगल क्या है ?

भगवान् महावीर ने कहा—वत्स ! अहिंसा, संयम और तप—ये तीनों श्रेष्ठ मंगल हैं ।

धर्म का लक्षण

२. अहिंसा लक्षणो धर्मः, धर्मः संयमलक्षणः ।
तपस्या लक्षणो धर्मः, वीरेण प्रतिपादितः ॥

भते ! धर्म का लक्षण क्या है ?

भगवान् ने कहा—वत्स ! अहिंसा, संयम और तपस्या—ये तीन धर्म के लक्षण हैं ।

कैसे सुनें ?

३. श्रवणमिन्द्रियेण स्यात्, मनसाऽथोवगम्यते ।
बुद्ध्या विविच्यते तावत्, सर्वांगं श्रवणं भवेत् ॥

वह श्रवण—सुनना तभी परिपूर्ण होता है, जिसमें इन्द्रियां, मन और बुद्धि—इन तीनों का उपयोग होता है । कान श्रवण के विषय को ग्रहण करता है, मन उसके अर्थ की अवधारणा करता है और बुद्धि हेय और आदेय का विवेक करती है ।

अनुशासन : एक विमर्श

४. किं स्रोतः किं स्वरूपं च, किं फलं चानुशासनम् ।
स्वतन्त्रता भवेत् स्रोतः, परस्वातन्त्र्यरक्षिका ॥
५. इच्छारोधः स्वरूपं स्यात्, प्रसादः समताफलम् ।
सुस्थिरो जायते लोकः, विद्यमानेऽनुशासने ॥

भंते ! अनुशासन का स्रोत क्या है ? उसका स्वरूप और फल क्या है ?

वत्स ! अनुशासन का स्रोत वह स्वतन्त्रता है, जो दूसरे की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सके । इच्छा का निरोध करना उसका स्वरूप है और उसका फल है समता और चित्त की प्रसन्नता । अनुशासन के फलित होने पर व्यक्ति अपने आपमें सुस्थिर हो जाता है ।

गुरु और शिष्य का संबन्ध

६. आज्ञानिर्देशकारित्वं, संबन्धनाति गुरोर्मतिम् ।
प्रीतिविनम्रता सेवा, कृतज्ञभावविश्रुतिः ॥

गुरु और शिष्य का गहरा संबंध होता है । गुरु से तादात्म्य स्थापित करने के पांच गुर हैं—

१. आज्ञा और निर्देश का पालन
२. प्रीति
३. विनम्रता
४. सेवा
५. कृतज्ञता का भाव ।

७. निष्पत्तिकारकत्वं च, बध्नाति शिष्यचेतनाम् ।

वात्सल्यं च सहिष्णुत्वं, ममता समता तथा ॥

शिष्य की चेतना को बांधने के पांच गुर हैं—१. निष्पत्तिकारकत्व—शिष्य को दीक्षित कर उसे निष्पत्ति तक पहुंचाना, परिपक्व बनाना २. वात्सल्य ३. सहिष्णुता ४. ममता ५. समता ।

तितिक्षा की कसौटियां

८. वर्धतां शक्तिरन्तस्था, वर्धतां च मनोबलम् ।

वर्धतामन्तरानन्दः, तत्सोढव्याः परीषहाः ॥

आन्तरिक शक्ति बढे, मनोबल बढे और आन्तरिक आनन्द बढे, इसलिए परीषहों को सहना चाहिए ।

९. न कष्टं नाम कष्टाय, कष्टापोहाय तन्मतम् ।

अस्मिन् कष्टाकुले लोके, कष्टमुक्तेरसौ पथः ॥

कष्ट को सहना कष्ट के लिए नहीं है । वह कष्ट को दूर करने का उपाय है । इस कष्टाकुल जगत् में कष्ट को सहना ही कष्टमुक्ति का उपाय है ।

दुर्लभ संयोग

१०. यावदारम्भबाहुल्यं, यावत् परिग्रहग्रहः ।

चतुष्कं दुर्लभं तावत्, इति संज्ञाऽपि दुर्लभा ॥

जब तक मनुष्य आरम्भ की बहुलता और परिग्रह की पकड़ में रहता है तब तक उसके लिए मनुष्य-जन्म की सार्थकता, धर्म

की श्रुति, धर्म के प्रति श्रद्धा और संयम में पराक्रम—यह चतुष्क दुर्लभ है, इसका संज्ञान होना भी दुर्लभ है ।

स्वतन्त्रता की सीमा

११. ज्ञानात्मा नाम संबुद्धः, कषायात्मा नियन्त्रितः ।
स्वतन्त्रतायाः सीमैषा, स्वयं निर्धारिता भवेत् ॥

भंते ! स्वतन्त्रता की सीमा क्या है ?

वत्स ! ज्ञान-आत्मा जाग जाए और कषाय-आत्मा का नियंत्रण हो जाए, यही स्वतंत्रता की सीमा निर्धारित है ।

१२. भयः प्रलोभनं द्वेष, आवेशो हीनभावना ।
अहंभावो लोकवाद, एतैः स्यादप्रभाविता ॥

भंते ! संकल्प की स्वतन्त्रता कब होती है ?

वत्स ! जब स्वतन्त्रता भय, प्रलोभन, द्वेष, आवेश, हीन-भावना, अहंकार और लोकवाद से अप्रभावित रहती है, तब संकल्प की स्वतंत्रता फलित होती है ।

धर्म का आदि-बिन्दु

१३. धर्मस्यादिपदं किं स्याद्, जिज्ञासा मम वर्तते ।
इन्द्रियातीतविज्ञानं, धर्मस्यादिपदं मतम् ॥

गुरुदेव ! मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म का आदि-बिन्दु क्या है ?

वत्स ! धर्म का आदि-बिन्दु है इन्द्रियातीत चेतना ।

ज्ञान क्या ?

१४. निमन्त्रितं स्याद् वार्धक्यं, रोगा अपि निमन्त्रिताः ।
अनिमन्त्रणविज्ञानं, ज्ञानं प्राहुर्बुधा इदम् ॥

बुढापा बुलाया हुआ आता है, रोग भी बुलाए हुए आते हैं । उन्हें निमन्त्रण न देने का जो विज्ञान है, उसी को ज्ञानी पुरुष ज्ञान कहते हैं ।

सत्य की अनुभूति

१५. समानो वर्तते जीवः, नानात्वं कथमिष्यते ।
मनुष्यो वर्तते कश्चित्, कश्चित् पक्षी पशुस्तरुः ॥

शिष्य के मन में संसार की विविधता को देखकर एक प्रश्न उभरा । उसने गुरु से पूछा—भते ! सब जीव [आत्माएं] समान हैं, फिर कोई मनुष्य है तो कोई पक्षी । कोई पशु है तो कोई वृक्ष । यह नानात्व क्यों ?

१६. अस्त्यात्मा शाश्वतस्तेन, गतिचक्रं प्रवर्तते ।
अस्ति पुण्यं च पापं च, नानात्वं च गतेस्ततः ॥

आचार्य ने कहा—वत्स ! आत्मा शाश्वत है । उसकी कभी मृत्यु नहीं होती । वह एक भव से दूसरे भव में जाती है, उसका गतिचक्र चलता रहता है । वह कभी मनुष्य, कभी देव और कभी पशु-पक्षी के रूप में उत्पन्न होती है । इस नानात्व का मूल कारण है—पुण्य और पाप ।

१७. इन्द्रियेणैव जानामि, बाह्यं जगदिदं स्फुटम् ।
तानि सन्ति च वैरीणि, श्रद्धेयं स्यादिदं कथम् ॥

भंते ! मैंने एक बात सुनी है कि इन्द्रियां हमारी शत्रु हैं । पर मैं इस बात को कैसे मानूं, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ही मैं इस बाह्य जगत् को स्पष्टतया जानता हूं, फिर वे हमारी शत्रु कैसे ?

१८. आविष्टानि यदा तानि, रागद्वेषप्रभावतः ।
तदा तानि विपक्षाणि, नेतराणि महामते ॥

महामते ! तुझे इन्द्रियों को सापेक्षता से समझना होगा । वे अपने आप में शत्रु नहीं हैं । जब वे राग-द्वेष से आविष्ट होती हैं तब वे हमारी शत्रु बन जाती हैं । जब उनमें वह आवेश नहीं होता तब वे हमारी मित्र होती हैं ।

प्रस्थान में बाधा

१९. पुद्गलेनावृतं ज्ञानं, दर्शनं पुद्गलावृतम् ।
आनन्दः पुद्गलाच्छन्नश्चास्ति पौद्गलिकं वपुः ॥

गुरुदेव ! हमारा योगक्षेम की ओर प्रस्थान क्यों नहीं हो रहा है ? इसमें कौनसी बाधा है ?

वत्स ! पुद्गल इसमें सबसे बड़ी बाधा है । वही हमारे ज्ञान और दर्शन पर आवरण डाल रहा है, वही आनन्द को आच्छन्न कर रहा है । और क्या ? यह हमारा शरीर भी पुद्गलमय है ।

२०. अस्ति पुद्गलसाम्राज्यमेकच्छत्रमितस्ततः ।

एषाऽस्ति महती बाधा, योगक्षेमस्य संविदः ॥

हमारे जीवन के चारों ओर पुद्गल का एकछत्र साम्राज्य है। बोलना, खाना, सुनना और श्वास लेना—सब पुद्गल ही पुद्गल है। वह विजातीय है। योगक्षेम की प्राप्ति में यह सबसे बड़ी बाधा है।

२१. योगक्षेमस्य संवित्तेः, उपायोऽसौ निर्दिशितः ।

न पुद्गलोऽस्मि चिद्रूप, इति भेदस्य साधना ॥

गुरुदेव ! क्या योगक्षेम की प्राप्ति का कोई उपाय है ?

वत्स ! हां, उपाय है। वह है तीव्र अभीप्सा। उसकी प्रक्रिया है—'मैं पुद्गल नहीं हूँ, चिद्रूप हूँ'—इस भेदविज्ञान की साधना।

कपिल की संबोध

२२. प्रश्नः प्रश्नः पुनः प्रश्नः, स्वं प्रति प्रतिपद्यताम् ।

उत्तरे परिवर्तेत, स्वयं प्रश्नः समाहितः ॥

भंते ! प्रश्न का समाधान कैसे हो सकता है ?

वत्स ! जिस प्रकार कपिल ने स्वयं से प्रश्न पूछा था उसी प्रकार तुम भी प्रश्न पूछो। पुनः पुनः प्रश्न पूछो। अपने आप से पूछो। प्रश्न उत्तर में बदल जाएगा। वह अपने आप समाहित हो जाएगा।

२३. पृष्टवान् कपिलः प्रश्नमन्तः शान्तमना अमुम् ।
कोट्या तृप्तो भविष्यामि, स्वयं संबुद्धतां गतः ॥

राजपुरोहित का पुत्र कपिल राजा द्वारा मुंहमांगा घन दिए जाने की लालसा में उलझ गया । तृष्णा इतनी विशाल हो गई कि वह दो माशा सोने से करोड़ों तक पहुंच गया । उसने शान्तमन होकर अपने आप से प्रश्न पूछा—क्या मैं करोड़ों की सम्पदा पाकर तृप्त हो जाऊंगा ? उसे सही समाधान मिल गया और वह स्वयं संबुद्ध बन गया ।

रूपान्तरण कैसे ?

२४. शनैः शनैः अन्तरिच्छाकृतं क्वचित् प्रभावतः ।
स्वतः परोपदेशाद् वा, व्यक्तित्वे परिवर्तनम् ॥

मनोविज्ञान की भाषा में व्यक्ति धीरे-धीरे बदलता है । कहीं वह परिवर्तन आन्तरिक इच्छा से होता है तो कहीं किसी के प्रभाव से । कहीं वह अपने आप होता है तो कहीं परोपदेश से ।

एक : अनेक

२५. एकः समूहमध्यस्थः, समूह एकमाश्रितः ।
एकाग्नेकविभेदोऽयं, व्यवहारे प्रवर्तते ॥

एक व्यक्ति भीड़ में रहता हुआ एकाकी है और एक एकाकी होता हुआ भी भीड़ में है । यह एक और अनेक का भेद व्यवहारनय की दृष्टि से है ।

२६. निश्चयं नयमाश्रित्य, सर्वोऽप्येकत्वमागतः ।

रागद्वेषविमुक्तोऽसौ, एक एव भवेज्जनः ॥

निश्चयनय की दृष्टि में सभी एकाकी हैं । जो राग-द्वेष-मुक्त जीवन जीता है वह भीड़ में रहता हुआ भी अकेला होता है ।

शाश्वत अशाश्वत का विवेक

२७. शाश्वते लब्धबुद्धीनां, नो काम्यः स्यादऽशाश्वतः ।

अशाश्वते प्रलुब्धो यः, स किं जानाति शाश्वतम् ?

भंते ! शाश्वत क्या है ? अशाश्वत क्या है ?

वत्स ! अध्यात्म शाश्वत है और भोग अशाश्वत है ।

जिन व्यक्तियों की बुद्धि शाश्वत में रमण करती है, उनके लिए अशाश्वत कभी काम्य नहीं होता और जो अशाश्वत में प्रलुब्ध है, वह शाश्वत को क्या जानेगा ?

अपराध और उसका निवारण

२८. अपराधान्निवर्तेत, लोकः प्रायो न चिन्त्यते ।

दण्डः कथं प्रवर्तेत, चित्रं चिन्तेति वर्तते ॥

भंते ! आज समाज में अपराध बढ़ रहे हैं । मनुष्य क्यों नहीं बदल रहा है ? इसका कारण क्या है ?

वत्स ! मनुष्य अपराध से बचे—प्रायः इसका चिन्तन नहीं किया जाता । चिन्तन होता है कि दण्ड कैसे चालू रहे ? यह एक आश्चर्य है । तब समाज में अपराध कैसे कम होंगे ? मनुष्य कैसे बदलेगा ?

२९. विश्वासो वर्तते दण्डे, न्याये तावान्न विद्यते ।
यदि न्यायः प्रवृत्तः स्याद्, दण्डः किं चिरमुच्छ्वसेत् ?

भंते ! समाज से अपराध को कैसे मिटाया जा सकता है ?

वत्स ! आज के मनुष्य का जितना विश्वास दण्ड में है उतना न्याय में नहीं है । यदि समाज में न्याय प्रवृत्त हो जाए तो दण्ड क्या चिरकाल तक उच्छ्वास ले सकेगा ? वह अपने आप समाप्त हो जाएगा ।

आत्मा से लड़ो

३०. संकल्पः शमनं ज्ञातृद्रष्टृभावविभावनम् ।
स्मरणं प्रतिक्रमणं, युद्धं पंचविधं स्मृतम् ॥

भंते ! भगवान् महावीर ने कहा—अपने आप से लड़ो—
आत्मा से युद्ध करो । उसके वे कौन से उपाय हैं ?

वत्स ! संकल्प, शमन, ज्ञाताद्रष्टाभाव, स्मरण और प्रतिक्रमण—
ये पांच उपाय आत्मयुद्ध के हैं ।

आकर्षण क्यों ?

३१. इन्द्रियाणि प्रधानानि, मानसं चापि चंचलम् ।
कषायरञ्जिता भावाः, तावदाकर्षणं गृहे ॥

भंते ! मनुष्यों का गृहजीवन के प्रति आकर्षण क्यों है ?

वत्स ! जब तक मनुष्य में इन्द्रियविषयों की प्रधानता है,
मन चंचल है, भाव कषायों से अनुरंजित हैं, तब तक घर के प्रति
उसका आकर्षण बना रहेगा ।

इच्छा : व्यक्त-अव्यक्त

३२. अव्यक्तो वर्तते कश्चित्, व्यवहारप्रवर्तकः ।
व्यक्तस्य निग्रहः कार्योऽव्यक्तः प्रतनुतां व्रजेत् ॥

भते ! व्यक्त इच्छा के निग्रह से अव्यक्त इच्छा का निरोध कैसे होगा ?

वत्स ! जैन दर्शन की भाषा में व्यक्त और अव्यक्त—ये दो इच्छाएं हैं। अव्यक्त इच्छा से हमारे व्यवहार का प्रवर्तन होता है। व्यक्त इच्छा भी उसी से प्रेरित है। जब व्यक्त इच्छा का निग्रह होगा तो अव्यक्त इच्छा अपने आप प्रतनु [दुर्बल] हो जाएगी।

प्रमत्त : अप्रमत्त

३३. जयस्य सूत्रं निर्दोष्टं, नाहमस्मि क्षमस्तथा ।
पराजयस्य सूत्रं त्व, प्रमादात् परमस्ति नो ॥

भते ! विजय का सूत्र क्या है ?

वत्स ! विजय का सूत्र बताने में मैं असमर्थ हूँ। पराजय का सूत्र बता सकता हूँ। उसका सबसे बड़ा सूत्र है—प्रमाद।

३४. आयुर्बन्धक्षणो नास्ति, निश्चितस्तेन संततम् ।
भाव्यमेवाऽप्रमत्तेन, प्रतिक्षणं प्रतिक्षणम् ॥

भते ! अप्रमत्त जीवन क्यों जीना चाहिए ?

वत्स ! आयुष्यबन्ध का क्षण निश्चित नहीं होता, इसलिए मनुष्य को प्रतिक्षण जागरूक रहना चाहिए।

अतीत और वर्तमान

३५. अतीतं स्मर्यते भूयो, वर्तमानमुपेक्ष्यते ।
निसर्गोऽयं मनुष्याणां, सन्मते ! परिवर्त्यताम् ॥

३६. अनुभूतिर्वर्तमानेऽतीते तर्कः स्मृतिर्भवेत् ।
तर्काद् गतिः प्रवर्तेत, साऽनुभूतौ विरम्यते ॥

भगवान् महावीर ने गौतम को संबोधित करते हुए कहा—
हे सन्मते ! मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अतीत को बार-
बार याद करता है और वर्तमान को उपेक्षित कर देता है । तुम
इसे बदलो । तुम्हें जो कुछ जानना है, जान लो । उसमें किञ्चित्
प्रमाद मत करो ।

वर्तमान का क्षण अनुभूति का क्षण होता है । अतीत का
क्षण स्मृति और तर्क का क्षण होता है । तर्क से जो गति प्रवृत्त
होती है, वह अनुभूति में विराम पा जाती है ।

परोक्षज्ञान और समाधि

३७. परोक्षे संप्रजायन्ते, बाधास्तत्र विपर्ययः ।
निराशा विचिकित्सा च, शंका च्चिच्च संशयः ॥

परोक्षज्ञान कई बाधाओं को उत्पन्न करता है । वे बाधाएं
हैं—विपर्यय, निराशा, विचिकित्सा, शंका और संशय ।

३८. परोक्षं विद्यतेऽस्पष्टं, बाह्यान्तरविभेदकृत् ।
सानुमानं च प्रत्यक्षं, स्पष्टं तेन समाधिकृत् ॥

परोक्षज्ञान में अस्पष्टता होती है। वहाँ अनुमान होता है और बाहर और भीतर का भेद बना रहता है। जब प्रत्यक्षज्ञान होता है तब स्पष्टता की स्थिति बनती है। उसी अवस्था में समाधि या समाधान प्राप्त होता है।

३६. अस्पष्टता भवेद् यत्राऽसमाधिस्तत्र जायते ।
स्पष्टतायां समाधिः स्याद्, ज्ञानजो व्यवहारजः ॥

जहाँ अस्पष्टता होती है वहाँ असमाधि होती है। समाधि स्पष्टता की स्थिति में होती है। इसके आधार पर उसके दो भेद बन जाते हैं—ज्ञानजनित समाधि और व्यवहारजनित समाधि।

भावक्रिया : द्रव्यक्रिया

४०. साफल्यस्य रहस्यं किं, ज्ञातुमिच्छामि सम्प्रति ।
भावः साफल्यसूत्रं स्याद्, द्रव्यं वैफल्यकारणम् ॥

भन्ते ! मैं जानना चाहता हूँ कि सफलता का रहस्य क्या है ?

वत्स ! भावक्रिया सफलता का सूत्र है और द्रव्यक्रिया असफलता का सूत्र है।

४१. जानन् करोमि भावोऽयमजानन् द्रव्यमुच्यते ।
तन्मना इति भावोऽयं, द्रव्यमन्यमना भवेत् ॥

गुरुदेव ! द्रव्य और भाव से आपका तात्पर्य क्या है ?

वत्स ! जानते हुए यह मैं कर रहा हूँ—यह भावक्रिया है। अनजान में कोई क्रिया करना—यह द्रव्यक्रिया है। अथवा जो

क्रिया करे उसी में मन लगा रहे, भावक्रिया है। क्रिया कुछ करे और मन अन्य प्रवृत्ति में रहे, द्रव्यक्रिया है।

प्रतिक्रिया क्यों ?

४२. कषायाकुलचित्तस्य, प्रतिक्रिया प्रतिक्रिया ।
उपशान्तकषायस्य, प्रतिक्रियाऽप्रतिक्रिया ॥

गुरुदेव ! प्रतिक्रिया क्यों होती है ? उससे किस प्रकार विरति हो सकती है ?

वत्स ! जिसका चित्त कषाय से आकुल होता है, उसके बार-बार प्रतिक्रिया होती रहती है। जिसका कषाय उपशान्त हो जाता है, उसके कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

मिताहार और मौन

४३. शक्तेर्वृद्धिः क्षतेः पूर्तिः, विजातीयस्य निर्गमः ।
लाघवञ्च प्रसादश्च, भोजने परिवीक्ष्यताम् ॥

आचार्य के सान्निध्य में संगोष्ठी का आयोजन था। प्रसंग चला कि भोजन को किस दृष्टि से देखा जाए ? आचार्य ने कहा—भोजन को पांच दृष्टियों से देखना आवश्यक है—१. जिससे शरीर की शक्ति बनी रहे २. काम करने से शरीर की जिन कोशिकाओं की क्षति होती है, उनकी पूर्ति होती रहे ३. समय पर विजातीय मलों का निर्गमन होता रहे ४. शरीर में हल्कापन बना रहे ५. मन की प्रसन्नता भंग न हो।

४४. अजल्पनं भवेन्मौनं, मौनं स्यादल्पजल्पनम् ।
अविकल्पनमेवाऽपि, मौनमन्तरुदाहृतम् ॥

किसी साधक ने पूछा—गुरुदेव ! मैं मौन की साधना करना चाहता हूँ । उसका स्वरूप क्या है ?

आचार्य ने कहा—कुछ न बोलना मौन है । कम बोलना भी मौन है । ये दोनों वाचिक मौन हैं । निर्विकल्प अवस्था में जाना—स्वरयन्त्र को निष्क्रिय बनाना अन्तमौन है ।

सर्वांगीण शिक्षाप्रणाली

४५. विकासो बौद्धिको युक्तः, तथ्यानां ग्रहणे भवेत् ।
विकासो मानसो युक्तः, समस्या जेतुमुत्कटाः ॥

४६. विकासो भावनानां च, युक्तो दायित्वपालने ।
शरीरसिद्धिरेतेषामाधार इति विश्रुतम् ॥

४७. प्रशिक्षणं विना नैते, संभवन्ति कदाचन ।
ततः स्वाध्याययोगोऽयं, विद्यार्थिनां प्रवर्तते ॥

शिक्षा के क्षेत्र में बहुधा पूछा जाता है—शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? समाधान की भाषा में शिक्षा का पहला उद्देश्य है—बौद्धिक विकास । इससे व्यक्ति तथ्यों को ग्रहण करने में सक्षम होता है । शिक्षा का दूसरा उद्देश्य है—मानसिक विकास । इससे मनुष्य अनुकूल-प्रतिकूल सभी उत्कट समस्याओं को झेलने में समर्थ बनता है । शिक्षा का तीसरा उद्देश्य है—भावात्मक विकास ।

इसकी फलश्रुति है—दायित्व-पालन का अवबोध । इन सबका आधार है—शरीरसिद्धि—शारीरिक विकास ।

ये चारों विकास प्रशिक्षण के बिना संभव नहीं हैं । उसके पश्चात् विद्यार्थी स्वाध्याययोग में प्रवृत्त हो सकता है ।

पूजा करें बहुश्रुत की

४८. स्वच्छता शौर्यमाशा च, धैर्यमौदार्यमात्मगम् ।
उच्चता सुगभीरत्वं, बहुश्रुते श्रुता अमी ॥

४९. यः करोति स्वयत्नेन, साक्षात्कारं निजात्मनः ।
चिदानन्दमयश्चात्मा, तन्मयः पूज्यते जनैः ॥

भंते ! बहुश्रुत में ऐसे कौन से गुण होते हैं, जिनके कारण वे लोगों के द्वारा पूजनीय बनते हैं ?

वत्स ! बहुश्रुत में निर्मलता, पराक्रम, आशा, धैर्य, उदारता, उच्चत्व और गाम्भीर्य—ये सभी गुण आत्मगत होते हैं ।

जो अपने प्रयत्न से अपने आपका साक्षात्कार करता है, वह चिदानन्दमय—आत्ममय हो जाता है और वह जन-जन के द्वारा पूजा जाता है ।

जातीय घृणा

५०. यथा यथा विवर्ततेऽभिमन्यता निरंकुशा ।
तथा तथा प्रवर्धते, घृणा च जातिसंभवा ॥

जैसे-जैसे अहंकार निरंकुश होकर बढ़ता है वैसे-वैसे जातीय घृणा बढ़ती है ।

५१. यथा यथा प्रवर्धते, समत्वभावसंस्तवः ।
तथा तथा विलीयतेऽभिमानभावना स्वतः ॥

जैसे-जैसे समत्वभाव का परिचय विकसित होता है वैसे-वैसे अहंकार की भावना स्वतः विलीन हो जाती है ।

कर्मणा जाति

५२. समाजो व्यक्तिसापेक्षः, जना विविधशक्तयः ।
कर्म शक्त्यनुरूपं स्यात्, तेन जातिः स्वकर्मणा ॥

समाज व्यक्तिसापेक्ष होता है । व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग शक्तियाँ पाई जाती हैं । किसी में बुद्धि-कौशल, किसी में पराक्रम, किसी में सेवा और किसी में व्यावसायिक दक्षता होती है । उन शक्तियों—योग्यताओं के अनुरूप ही कर्म होता है । इसलिए जाति कर्मणा होती है, जन्मना नहीं ।

यज्ञ आदि का आध्यात्मिकीकरण

५३. इष्टसिद्धिरनिष्टस्य, निवारणमभीप्सितम् ।
तदर्थं कर्म धर्मोऽपि तदर्थं विद्यते नृणाम् ॥

५४. इष्टं नैकविधं तेषामनिष्टं चापि नैकधा ।
तेषामाध्यात्मिकं रूपं, निर्दोषं सम्मतं बुधैः ॥

गुरुदेव ! भारतीय परम्परा में यज्ञ, तीर्थस्नान आदि को महत्त्व क्यों मिला ?

वत्स ! मनुष्य इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट के निवारण को

अभीप्सित मानता है, उसके लिए वह कर्म करता है और धर्म भी उसी के लिए करता है ।

मनुष्य के लिए इष्ट एक प्रकार का नहीं है और अनिष्ट भी एक प्रकार का नहीं है । उसका भौतिक स्वरूप निर्दोष नहीं होता । आध्यात्मिक स्वरूप ही विज्ञजनों द्वारा सम्मत हो सकता है । भगवान् महावीर ने यज्ञ और तीर्थ आदि का आध्यात्मिकीकरण किया था ।

जन्म है कर्माधीन

५५. कर्माधीनं भवेज्जन्म, सुखदं दुःखदं तथा ।

सातसंवेदनं तद्वद्, असातस्याऽपि वेदनम् ॥

किसी का जन्म लेना स्वतन्त्र नहीं है वह कर्म के अधीन है । कोई जन्म सुख देने वाला होता है, कोई जन्म दुःख देने वाला होता है । कभी मनुष्य सुख का संवेदन करता है और कभी दुःख का संवेदन करता है ।

सत्य या भावविप्लव ?

५६. सत्यं बलयुतं यद्वा, बलवान् भावविप्लवः ?

ज्ञानोपयोगे सत्यं स्यादऽन्यो मोहचिदः क्षणे ॥

भन्ते ! सत्य बलवान् है अथवा भाव का विप्लव ?

वत्स ! जिस क्षण ज्ञान का उपयोग होता है, उस समय सत्य बलवान् होता है । जिस क्षण मोह की चेतना जागृत होती है, उस समय भावविप्लव—क्रोध, मान आदि का भाव बलवान् होता है ।

चाहभेद क्यों ?

५७. कामार्थी वर्तते कश्चित्, मोक्षार्थी कोऽपि वर्तते ।
अर्थित्वस्य विभेदोऽयं, केनास्ति संप्रवर्तितः ॥

शिष्य ने पूछा—कोई कामार्थी है—कामभोग को चाहता है । कोई मोक्षार्थी है—मोक्ष को चाहता है । यह चाहभेद किसके द्वारा प्रवर्तित होता है ?

५८. मोहप्रवर्तितः कामः, मोक्षः स्वभाववर्तितः ।
हेतुभेदेन चार्थित्वभेदो लोके प्रविद्यते ॥

आचार्य ने कहा—कामभोग मोह के द्वारा प्रवर्तित है, मोक्ष स्वभाव के द्वारा प्रवर्तित है । लोक में यह चाहभेद हेतुभेद—कारणों की विभिन्नता से होता है ।

अध्यात्म का अवतरण ?

५९. ग्रन्थिभेदो नवा तावद्, अध्यात्मं खलु कल्पना ।
भिन्ने ग्रन्थौ पुद्गलानां, साम्राज्यं खलु कल्पना ॥

गुरुदेव ! जीवन में अध्यात्म कब उतरता है ?

वत्स ! जब तक ग्रन्थिभेद नहीं होता तब तक अध्यात्म कोरी कल्पना है । जब ग्रन्थिभेद हो जाता है तब पुद्गलों का साम्राज्य भी कोरी कल्पना है ।

मान्यता और धारणा

६०. मान्यता धारणा यास्ति, चिरकालेन पोषिता ।
सद्यः सा विलयं गच्छेन्नेति चिन्त्यं विचक्षणैः ॥

६१. अभीप्साऽन्वेषणं मार्गः, सहायो भावना तथा ।
दृढनिश्चय इत्येते, हेतवः परिवर्तने ॥

भंते ! प्रत्येक व्यक्ति मान्यताओं और धारणाओं के आधार पर जीता है । उनका विलय कैसे हो सकता है ?

वत्स ! यह सत्य है कि मनुष्य चिरकाल से मान्यताओं और धारणाओं को पालता आ रहा है । वे जल्दी ही विलीन हो जाएं, ऐसा विचक्षणपुरुषों को नहीं सोचना चाहिए । उनके परिवर्तन में हेतु बनते हैं—अभीप्सा—बदलने की इच्छा, अन्वेषण—खोज, मार्ग, सहायक, भावना—अभ्यास और दृढनिश्चय ।

तुलनात्मक अध्ययन का गुर

६२. अहिंसादीनि तत्त्वानि, समानीति न विस्मयः ।
विशेषो विस्मयस्थानं, सोऽन्वेष्यो मनीषिणा ॥

आर्यवर ! किसी धर्म का तुलनात्मक अध्ययन कैसे होना चाहिए ?

वत्स ! किसी धर्म का अध्ययन समानता से ही नहीं, विशेषता या भेदपूर्वक भी होना चाहिए । अहिंसा आदि तत्त्व सभी धर्मों में समान हैं, यह आश्चर्य का विषय नहीं है । अहिंसा के विषय में जो भेद है, वह विस्मय का स्थान है । मनीषी व्यक्ति को उसका अन्वेषण करना चाहिए ।

महान् आश्चर्यं

६३. स्वीकारो वा नवा प्रश्नः, स्वस्य बुद्धौ प्रतिष्ठितः ।
धर्मक्षेत्रेऽपि हिसेयं, किमाश्चर्यमतः परम् ?

कौन व्यक्ति अहिंसा का स्वीकार करता है और कौन नहीं करता, यह प्रश्न अपनी-अपनी बुद्धि पर निर्भर करता है । किन्तु धर्म के क्षेत्र में भी हिंसा चलती है अर्थात् धर्म के लिए भी हिंसा मान्य है, इससे अधिक आश्चर्य क्या होगा ?

मौलिक मनोवृत्ति

६४. एका वृत्तिर्भवेन्मूलं, लोभो रागः परिग्रहः ।
अधिकारोऽथवा वाच्यः, परास्तेनोपजीविताः ॥

कर्मशास्त्र या अध्यात्मशास्त्र के अनुसार मौलिक मनोवृत्ति एक है । वह है लोभ । उसे राग अथवा परिग्रह भी कहा जा सकता है । कुछ मनोवैज्ञानिकों ने अधिकार को मौलिक मनोवृत्ति माना है । शेष सारी वृत्तियां उसकी उपजीवी हैं ।

कहां हूं ?

६५. प्रश्नः कोऽहमिति ख्यातः, क्वाहमित्यस्ति नो श्रुतः ।
तैजसं समतिक्रम्य, चैतन्यं साधुतां व्रजेत् ॥

‘मैं कौन हूं’—आज यह प्रश्न विश्रुत है । पर ‘मैं कहां हूं’—यह स्वर कभी नहीं सुना जाता । साधुता जीवन में तभी आती है जब चेतना तैजसकेन्द्र का अतिक्रमण कर ऊर्ध्वारोहण करती है

ब्रह्मचर्य की सिद्धि

६६. केवलं न निमित्तानि, साधनानि न केवलम् ।
सापेक्षता भवेदेषां, ब्रह्मचर्यस्य सिद्धये ॥

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए केवल निमित्तों से बचना, केवल साधनों को अपनाना—दोनों अपूर्ण हैं। उसकी सिद्धि के लिए दोनों की सापेक्षता अनिवार्य है।

प्रेक्षा : परा और अपरा

६७. अपरा तोषमायाति, प्रेक्षा संप्राप्य लौकिकम् ।
परा तु दूरदर्शित्वादलौकिकपदं व्रजेत् ॥

भंते ! साधुता कहां सार्थक होती है ?
वत्स ! जब मुनि पराप्रेक्षा में जीता है तब उसकी साधुता सार्थक होती है।

भंते ! वह कैसे ?

वत्स ! प्रेक्षा के दो प्रकार हैं—अपरा और परा। अपरा-प्रेक्षा लौकिक है, वर्तमानदर्शी है। वह लौकिक वस्तुओं की संप्राप्ति में तोष मानती है। पराप्रेक्षा अलौकिक है, दूरदर्शी है। वह अलौकिक पद तक चली जाती है।

महान् बनने का सूत्र

६८. यदिच्छसि गुरोर्भावं, विवाहं त्यज दूरतः ।
आग्रहेण विवादेन, लघुतां मानवो व्रजेत् ॥

शिष्य आचार्य के पास आया और बोला—गुरुदेव ! महान् बनने का उपाय क्या है ?

आचार्य ने कहा—वत्स ! यदि तुम महान् बनने की इच्छा करते हो तो विवाद और आग्रह से दूर रहो, क्योंकि व्यक्ति आग्रह और विवाद के कारण लघुता—तुच्छता को प्राप्त होता है ।

अभय कौन ?

६६. मूढो नित्यं भयग्रस्तो, मूर्खो भ्राति भयद्रुतः ।
मनसा दुर्बलो भीतो, भयभीतमिदं जगत् ॥

इस संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं—मूढ, मूर्ख और मन से दुर्बल । मूढ व्यक्ति नित्य भय से ग्रस्त रहता है, मूर्ख व्यक्ति डरपोक—कायर होता है और मन से दुर्बल व्यक्ति सदा डरता रहता है । इन तीनों के लिए यह सारा जगत् भय से आक्रान्त बना रहता है ।

७०. जडो भयास्पदं सम्यग्, न गृह्णाति न चाभयः ।
स एवास्त्यभयो लोके, यो न मूढो न वा जडः ॥

जड़ व्यक्ति भय के कारण को ठीक प्रकार से पकड़ नहीं पाता, इसलिए वह अभय नहीं होता । इस संसार में वही अभय है, जो न मूढ है और न जड़ ।

कलाओं का ज्ञाता कौन ?

७१. जीवनं च कला पूर्णा, मृत्युः साध्यतिशायिनी ।
स कलां सकलां वेत्ति, रहस्यमनयोरपि ॥

जीवन जीना एक पूर्ण कला है । मृत्यु उससे भी अधिक पूर्ण कला है । जो व्यक्ति जीवन और मरण—इन दोनों के रहस्य को जान लेता है, वह समस्त कलाओं का जानकार हो जाता है ।

धारणा की पुष्टि

७२. विषयेषु शरीरे च, मनश्चाञ्चल्यमश्नुते ।
ताभ्यां विरतिमापन्ने, धारणा स्थिरतां व्रजेत् ॥

गुरुदेव ! धारणा के बिना स्मृति प्रखर नहीं होती । धारणा कैसे पुष्ट हो सकती है ?

वत्स ! कभी यह मन विषयों में चंचल होता है तो कभी शरीर के प्रति । जब इन दोनों से मन की विरति होती है तब धारणा स्थिर या पुष्ट होती है ।

देहस्थ : आत्मस्थ

७३. देहस्था मानवाः केचिद्, केचिदात्मस्थिता जनाः ।
आचारे व्यवहारे च, भेदस्तेषामतो भवेत् ॥

भंते ! कुछ लोग आचार और व्यवहार में बड़े कुशल होते हैं तो कुछ उनमें कुशल नहीं होते । यह भेद क्यों ?

वत्स ! कुछ लोग देहस्थ होते हैं—वे शरीर के स्तर पर जीते हैं । कुछ लोग आत्मस्थ होते हैं—वे आत्मा के स्तर पर जीते हैं । देह के स्तर पर जीने वालों से आत्मा के स्तर पर जीने वालों का आचार और व्यवहार भिन्न प्रकार का होगा ।

अपना दर्शन अपने द्वारा

७४. ज्ञानं ममेन्द्रियाधीनं, जीवनं सामुदायिकम् ।
तत्रात्मनात्मनो दर्शः, कथं स्यात् सार्थकं प्रभो !।।

किसी शिविरार्थी ने अपने प्रेक्षाध्यानी गुरु से पूछा—प्रभो ! आप प्रतिदिन हमें 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—अपने द्वारा अपने आपको देखने का निर्देश देते हैं । सचाई यह है कि मेरा ज्ञान इन्द्रियों के अधीन है । जीवन सामुदायिक है । उस स्थिति में अपने आपको देखने का सूत्र कैसे सार्थक हो सकता है ? वहां तो दूसरो को देखने का सूत्र ही सार्थक होता है ।

७५. प्रज्ञा नास्ति समुद्बुद्धा, तावत्परस्य दर्शनम् ।
इन्द्रियाणां स्वभावोऽयं, तत्र स्वार्थः प्रवर्तते ॥

गुरु ने कहा—वत्स ! जब तक प्रज्ञा नहीं जागती तब तक व्यक्ति दूसरों को देखता रहता है । यह इन्द्रियों का स्वभाव है । वहां स्वार्थ प्रवर्तित होता है ।

कायोत्सर्ग

७६. जीवनं मंगलं भूयात्, प्रत्येकं मंगलं दिनम् ।
कायोत्सर्गं यतो वेद्यि, सर्वदा मंगलं ततः ॥

देव ! आप दिन में बार-बार कायोत्सर्ग करते हैं । उसका उद्देश्य क्या है ?

वत्स ! प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मेरा जीवन मंगलमय हो, मेरा प्रत्येक दिन मंगल में बीते । मैं इसीलिए कायोत्सर्ग करता हूँ कि जिससे सदा मंगल ही मंगल हो ।

भेदरेखा कहां ?

७७. जीवने मरणे क्वास्ति, भेदरेखा समन्ततः ।
न लब्धेयं मया स्वामिन् ! ततो जिज्ञासितं मम ॥

भंते ! मेरी एक जिज्ञासा है । जीवन और मृत्यु दो हैं । दोनों में भेदरेखा होनी चाहिए । वह कहां है ? अभी तक वह मुझे मिली नहीं है ।

७८. समाधिर्जीवनं भूयोऽसमाधिर्मरणं भवेत् ।
जन्ममृत्युविभेदोऽयं, सम्मतोऽध्यात्मदर्शने ॥

शिष्य ! जन्म और मरण के बीच भेदरेखा है—समाधि । यह भेदरेखा खींची गई है समाधि के द्वारा । समाधि जीवन है और असमाधि मृत्यु । यह अध्यात्मदर्शन की सम्मति है ।

धीर कौन ?

७६. लक्ष्याद् विचलितुं कर्तुं, भयं दर्शयते जनः ।
हीनभावं च निर्माति, तत्र धीरो न कम्पते ॥

मनोविज्ञान के अनुसार किसी को लक्ष्य से विचलित करने के लिए लोग उसे भय दिखाते हैं, फिर उसमें हीनभावना उत्पन्न करते हैं। किन्तु धीर पुरुष उनसे—भय और हीनभावना से कभी विचलित नहीं होता।

संघर्ष के बीज

८०. अदृश्यो वर्तते भावो, भाषा दृश्या ततः स्फुटम् ।
संघर्षबीजमाकीर्णं, प्रकृतौ किं सूजेज्जनः ?

आर्यवर ! इस दुनिया में हमेशा संघर्ष चलता है। इसका क्या कारण है ?

विनेय ! हमारी दुनिया में भाव अदृश्य हैं, वे कभी दिखाई नहीं देते। भाषा दृश्य है, वह सदा दिखाई देती है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति में संघर्ष के बीज बिखरे हुए हैं, तब बेचारा व्यक्ति क्या करे ? वहां संघर्ष तो होगा ही।

उपादान और निमित्त

८१. सापेक्षे सत्युपादाने, निमित्तं सहकारकम् ।
निरपेक्षे ह्युपादाने, तदकिञ्चित्करं भवेत् ॥

भते ! उपादान और निमित्त दोनों कारण विद्यमान हैं।

उस स्थिति में निमित्त उपादान को प्रभावित करता रहेगा, फिर उपादान का विशेष मूल्य क्या है ?

वत्स ! उपादान सापेक्ष होता है, तभी निमित्त सहकारी बनता है । यदि उपादान निरपेक्ष हो तो निमित्त अकिञ्चित्कर बन जाता है ।

संघबद्ध साधना का अधिकारी

८२. अहंकारो भवेत् शान्तः, कुर्यादात्मनिरीक्षणम् ।
अपूर्णतामनुभवेत्, पारस्पर्यमपेक्षितम् ॥

भगवन् ! कौन व्यक्ति संघबद्ध साधना कर सकता है ?

वत्स ! १. जिस व्यक्ति का अहंकार शान्त हो जाता है
२. जो आत्मनिरीक्षण करता है ३. जो अपनी अपूर्णता का अनुभव करता है ४. जो पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा रखता है—वही व्यक्ति संघबद्ध साधना कर सकता है ।

धर्म का सत्य

८३. सत्यं धर्मस्य किं नाम, जिज्ञासितमिदं मम ।
अशुभेन शुभस्याऽयं, संघर्षो धर्म उच्यते ॥

गुरुवर ! धर्म का सत्य क्या है ? यह मेरी जिज्ञासा है ।

भद्र ! अशुभ के साथ शुभ का संघर्ष ही धर्म कहलाता है ।

अनुभव कैसे जागे ?

८४. अकरणस्य संकल्पः, भावो मनोऽपि तद्गतम् ।
परात्मना च तादात्म्यं, प्रस्फुटोऽनुभवस्तदा ॥

किसी साधक ने पूछा—गुरुदेव ! अभी तक अनुभव नहीं जागा है । उसे जगाने का उपक्रम क्या हो सकता है ?

आचार्य ने कहा—शिष्य ! उसके लिए तीन शर्तें आवश्यक हैं—१. अकरणीय कार्य न करने का संकल्प २. संकल्प के अनुरूप भाव और मन का निर्माण ३. परात्मा या अहंत् के साथ तादात्म्य । जब ये तीनों बातें होती हैं तब अनुभव का प्रस्फुटन होता है ।

मन का संचालक कौन ?

८५. विपाकः कर्मणो यादृग्, यादृग् भावस्तमाश्रितः ।

मनः प्रवर्तते तादृग्, भावाधीनं मनो यतः ॥

भन्ते ! लोकव्यवहार में कहा जाता है—‘मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।’ क्या मन ही सबको चला रहा है ?

वत्स ! जो सुना जा रहा है वह पूरा सत्य नहीं है । मन भी दूसरों के चलाए चलता है । कर्मशास्त्र के अनुसार कर्मों का जैसा विपाक होता है वैसा भाव बनता है । जैसा भाव होता है उसी के अनुरूप मन प्रवर्तित होता है, क्योंकि मन भाव के अधीन है । वह स्वतन्त्र नहीं है ।

योगी और भोगी ?

८६. यस्य जागति लोकस्य, प्रत्याख्यानस्य चेतना ।

स योगी स च भोगी यः, प्रत्याख्यानविर्वर्जितः ॥

आर्यवर ! क्या योगी और भोगी में कोई भेदरेखा खींची

जा सकती है ?

वत्स ! हां, खींची जा सकती है । योगी वह होता है जिसकी प्रत्याख्यान की चेतना जागृत रहती है और भोगी वह होता है जो प्रत्याख्यान से शून्य होता है ।

समर्थ कौन ?

८७. स समर्थोऽस्ति यस्मिन् स्यात्, प्रत्याख्यानस्य चेतना ।

सोऽसमर्थो जनो योऽस्ति, प्रत्याख्यानविर्वाजितः ॥

देव ! समर्थ कौन होता है और असमर्थ कौन होता है ?

भद्र ! जिस व्यक्ति में प्रत्याख्यान की—त्याग की चेतना होती है वह समर्थ होता है और जो प्रत्याख्यान से रहित होता है वह असमर्थ होता है ।

सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

८८. शरीरे मानसे भावे, सापेक्षेयं सहिष्णुता ।

नाप्रियं सहते किञ्चित्, तपस्वी सहते क्षुधाम् ॥

सहिष्णुता तीन प्रकार की होती है—शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक । ये तीनों सापेक्ष हैं । एक तपस्वी भूख को सह सकता है, किन्तु अप्रिय बात को किञ्चित् भी नहीं सह सकता । यह उसकी शारीरिक सहनशीलता अवश्य है, पर मानसिक और भावनात्मक सहनशीलता नहीं है ।

यह भी सोचो

८९. किं शक्यं किमशक्यं मे, विकल्पे मा श्रमं कुरु ।

यच्छक्यं तद्विकासाय, किं करोष्युचितं श्रमम् ?

गुरुदेव ! सफलता की कुञ्जी क्या है ?

वत्स ! सफलता की कुञ्जी है—उचित श्रम । मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता—इस चिन्तन में तुम श्रम मत लगाओ । जो तुम्हारे लिए शक्य है, उसके विकास में क्या तुम उचित श्रम करते हो ? यह सोचो ।

चारित्र का स्रोत

६०. कुतश्चारित्रमायाति, विचारादथवा मतेः ।

चारित्रस्रोतसो ज्ञानं, कर्तुमिच्छामि सम्प्रति ॥

देव ! मैं चारित्र के स्रोत का ज्ञान करना चाहता हूँ । वह कहां से आता है—विचार से अथवा बुद्धि से ?

६१. नो मतिर्नो विचारश्च, चारित्रस्रोत इष्यते ।

विशुद्धा चेतनाऽन्तःस्था, चारित्रं जनयत्यसौ ॥

वत्स ! चारित्र का स्रोत न बुद्धि है और न विचार । उसका स्रोत है—आन्तरिक चेतना की निर्मलता । वह जितनी निर्मल होती है उतना ही चारित्र प्रस्फुटित होता है ।

जीभ का संयम

६२. संयमो दमिता वृत्तिः, असंयमो बलक्षयः ।

द्वयोरपि समाधानं, जिह्वासंयम इष्यते ॥

भगवन् ! कामवासना का संयम किया जाए तो मनोविज्ञान के अनुसार कहा जाता है कि वासना का दमन करना अच्छा नहीं है । यदि संयम न किया जाए तो बल क्षीण होता है । यह

दोहरी समस्या है। इसका समाधान क्या हो सकता है ?

वत्स ! इन दोनों का समाधान है—जीभ का संयम। जीभ का संयम होने पर वासना का संयम सहज ही निष्पन्न हो जाता है।

आचार-शास्त्र

६३. अशस्त्रं काममाचारः, शस्त्रं भावो विमोहितः ।

शस्त्रं चाऽविरतिस्तस्मात्, दूरमाचारवान् मतः ॥

आचार का तात्पर्य है—शस्त्ररहित होना। शस्त्र केवल तलवार, बन्दूक आदि ही नहीं हैं, भाव या अविरति भी शस्त्र हैं। वे चेतना को मूढ बनाते हैं। इसलिए जो व्यक्ति अविरति या भाव-शस्त्र से दूर रहता है, वह आचारवान् होता है।

६४. परमश्रेयसः प्राप्तिः, उद्देश्यं तस्य सम्मतम् ।

आत्मैव परमं श्रेयः, आचारेण स लभ्यते ॥

किसी ने महान् दार्शनिक सुकरात से पूछा—नीतिशास्त्र का उद्देश्य क्या है ? सुकरात ने कहा—परम शुभ को पाना उसका उद्देश्य है। वह परम शुभ है—आत्मा। वह प्राप्त होता है आचार से।

नियामक कौन ?

६५. आदर्शो वीतरागोऽस्ति, संयमस्तस्य साधनम् ।

संयमस्य प्रवक्तारः, सन्ति विश्वनियामकाः ॥

भंते ! विश्व का नियामक कौन होता है ?

वत्स ! संयम । जैन धर्म का आदर्श है वीतराग बनना । उस दिशा में बढ़ने का साधन है संयम । जो व्यक्ति संयम के प्रवक्ता होते हैं, वे विश्व के नियामक होते हैं ।

हिंसा : प्रमाद या वध ?

६६. सर्वे प्राणाः न हतव्याः, अहिंसाऽसौ प्रकीर्तता ।

किं हिंसा वध एवास्ति, प्रमादो वा भवेदसौ ?

६७. वधः कार्यं प्रमादश्च, कारणं नाम विद्यते ।

अप्रमत्तो वधार्थं नो, नो संतापाय चेष्टते ॥

भगवन् ! मैंने आचारांग सूत्र के 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन को पढा है । वहाँ षट्काय के वध को हिंसा कहा गया है । क्या किसी का वध करना ही हिंसा है अथवा प्रमाद भी हिंसा है ?

वत्स ! भगवान् महावीर की वाणी में किसी प्राणी का वध मत करो, यह व्यक्त अहिंसा है । प्रमाद हिंसा है और अप्रमाद अहिंसा है, यह इसकी पृष्ठभूमि में रहा हुआ है ।

प्रमाद कारण है । वध या हिंसा उसका कार्य है । जो अप्रमत्त होता है, वह किसी का वध करने और किसी को संताप देने की चेष्टा नहीं करता ।

इच्छा के दो रूप

६८. आत्मरक्षा चात्मतृप्तिः, मुख्यमिच्छाद्वयं भवेत् ।

इच्छाकुले जगत्यस्मिन्, तदर्थं यतते जनः ॥

यह जगत् इच्छाओं से ध्याप्त है । समाज विज्ञान के अनुसार

उसमें दो इच्छाएं प्रमुख हैं—आत्मरक्षा की इच्छा और आत्मतृप्ति—अधिकतम सुख पाने की इच्छा । मनुष्य इन दोनों के लिए सर्वाधिक प्रयत्न करता है ।

भोग : आसक्ति और मात्रा

६६. आसक्तेः कियती मात्रा, मात्रा भोगस्य कीदृशी ?

दृष्टिकोणः किंप्रकारः, भोगे चिन्त्यमिदं मुहुः ॥

भन्ते ! आज के भोगवादी युग में भोग के प्रति कैसा दृष्टिकोण होना चाहिए ?

वत्स ! इस विषय में दो बातों का बार-बार चिन्तन करना चाहिए—भोग के प्रति आसक्ति की मात्रा कितनी है और भोग की मात्रा कैसी है ?

कर्म से कौन बंधता है ?

१००. बद्धं कर्माणि बद्धनन्ति, रोगो गच्छति रोगिणाम् ।

अबद्धो न भवेद् बद्धः, विरागो नामयास्पदम् ॥

गुरुदेव ! कर्म-परमाणु कर्मबद्ध व्यक्ति को ही बांधते हैं और रोग रुग्ण व्यक्तियों को ही लगते हैं । ऐसा क्यों ?

वत्स ! कर्म कर्म को खींचते हैं । जो कर्म से अबद्ध—मुक्त है, वह फिर कभी कर्म से बद्ध नहीं होता । इसी प्रकार राग-रहित व्यक्ति में प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रबल होती है । वह सहज स्वस्थ होता है । इसलिए उस पर रोग आक्रमण नहीं करता ।

सुख-दुःख किसे ?

१०१. सुखं वाञ्छति सर्वोऽपि, दुःखं कोऽपि न वाञ्छति ।
सुखार्थं यतते लोको, दुःखं तथाऽपि जायते ॥

सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता । मनुष्य सुख के लिए प्रयत्न करता है, फिर उसे दुःख क्यों प्राप्त होता है ?

१०२. दुःखं मूच्छा मनुष्याणां, अमूच्छा वर्तते सुखम् ।
मूढो दुःखमवाप्नोति, अमूढः सुखमेधते ॥

प्राणियों के लिए मूच्छा दुःख है, अमूच्छा सुख है । जो मूढ है, उसे दुःख प्राप्त होता है । जो अमूढ है, उसे सुख उपलब्ध होता है ।

दुःख का चक्र

१०३. लोकानां देहजं दुःखं, प्रधानं दृश्यते मतम् ।
दुःखमात्मविदां मुख्यं, क्रोधादीनां समुद्भवः ॥

सांसारिक लोग शारीरिक दुःख को ही प्रधान मानते हैं । आत्मविद् व्यक्तियों की दृष्टि में मुख्य दुःख है—क्रोध आदि कषायों का आवेग ।

जो सहता है वही रहता है

१०४. सत्ये यस्य धृतिः सिद्धा, मित्रमात्मा निजो ध्रुवम् ।
निग्रहः स्वात्मना स्वस्य, तस्याऽस्तित्वं सनातनम् ॥

जिसकी धृति सत्य में निहित है, उसकी अपनी आत्मा ही अपना मित्र है। जो अपने द्वारा अपने आपका निग्रह करता है, उसका अस्तित्व सनातन बना रहता है।

परम सुख ?

१०५. असन्तोषः बहिःकांक्षा, सन्तोषः प्रीतिरात्मनि ।
सन्तोषः परमं सौख्यं, असन्तोषोऽसुखं परम् ॥

गुरुदेव ! मैंने सुना है कि सन्तोष परम सुख है और असन्तोष परम दुःख है। ऐसा क्यों ?

शिष्य ! असन्तोष बाह्य की आकांक्षा है, सन्तोष आत्मा में प्रीति है। इसलिए सन्तोष परम सुख है और असन्तोष परम दुःख है।

समाधि का मूल्य

१०६. दुःखगर्भं मोहगर्भं, ज्ञानगर्भमनुत्तरम् ।
वैराग्यं त्रिविधं प्रोक्तं, जानिभिः परमर्षिभिः ॥

भन्ते ! मैं समाधि चाहता हूँ। वह कैसे प्राप्त हो सकती है ?

भद्र ! वह प्राप्त हो सकती है वैराग्य से। परम ऋषियों तथा ज्ञानियों ने उसके तीन प्रकार बतलाए हैं—दुःख से होने वाला वैराग्य, मोह से होने वाला वैराग्य और ज्ञान से होने वाला वैराग्य। तीनों में ज्ञानगर्भ वैराग्य अनुत्तर है।

कौन भीतर ? कौन बाहर ?

१०७. प्रमत्तो वञ्चको दृष्टाऽसक्तः प्रज्वलिताशयः ।

दुःखं परकृतं जानन्, बहिस्तिष्ठति मानवः ॥

भन्ते ! भीतर कौन है और बाहर कौन है ?

वत्स ! जो प्रमत्त है, वंचना करता है, दृष्ट [इन्द्रिय-विषय] में आसक्त रहता है, जिसके कषाय प्रज्वलित रहते हैं और जो दुःख को परकृत मानता है, वह बाहर है ।

१०८. अप्रमत्तोऽवञ्चकश्च, दृष्टाऽसक्तः शमंगतः ।

दुःखमारम्भजं जानन्, अन्तस्तिष्ठति मानवः ॥

जो अप्रमत्त है, अवंचक है, दृष्ट [इन्द्रिय-विषय] के प्रति अनासक्त है, जिसके कषाय उपशान्त हैं और जो दुःख को आरम्भज—हिंसामूलक मानता है, वह भीतर है ।

संविभाग की सिद्धि

१०९. संविभागो निर्ममत्वं, मुक्त्वा क्वापि न सिद्धयति ।

ममत्वचेतना तेन, परिष्कार्या मुमुक्षुभिः ॥

भन्ते ! भगवान् ने संविभाग को बहुत महत्त्व दिया है । उसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

वत्स ! निर्ममत्व की सिद्धि के बिना संविभाग कहीं भी सिद्ध नहीं होता । अतः मुमुक्षु को ममत्व-चेतना का परिष्कार करना चाहिए ।

राग : विराग

११३. समाजस्य परं तत्त्वं, राग इत्यभिधीयते ।
समाजं समतिक्रान्तः, विरागो व्यक्तिमाश्रितः ॥

भन्ते ! समाज का परम तत्त्व क्या है ?

शिष्य ! समाज का परम तत्त्व है—राग । जब व्यक्ति समाज-चेतना से हटकर अपनी ओर मुड़ता है तब उसके लिए विराग परम तत्त्व बन जाता है ।

११४. विरागेण विना रागो, विकारान् वितनोत्यलम् ।
तेनादर्शो विरागः स्याद्, रागिणामपि देहिनाम् ॥

विरागशून्य राग विकार को बढ़ाता है । अतः रागी व्यक्तियों के लिए भी विराग आदर्श होता है ।

श्रुत और समाधि

११५. तज्ज्ञानं न मतं ज्ञानं, समाधिर्नैव विद्यते ।
समाधिश्च कथं प्राप्यः, विना ज्ञानमनाविलम् ॥

शिष्य ने जिज्ञासा की—देव ! क्या समाधि के लिए ज्ञान आवश्यक है ?

आचार्य ने कहा—हां, आवश्यक है । उस ज्ञान का ज्ञान नहीं माना जाता, जिसमें समाधि न हो । विशुद्ध ज्ञान के बिना समाधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? तात्पर्य की भाषा में विशुद्ध ज्ञान ही समाधि है, मूर्च्छा या ज्ञानशून्यता समाधि नहीं है ।

११०. निर्ममत्वस्य संसिद्धिर्चा, व्यवहारोऽपि तादृशः ।

कार्यो व्यवहारशून्यस्य, सिद्धान्तो नार्थवान् भवेत् ॥

निर्ममत्व की संसिद्धि के लिए व्यवहार भी निर्ममत्व के अनुरूप होना चाहिए । व्यवहारशून्य सिद्धान्त सार्थक नहीं होता ।

श्रेय और प्रेय

१११. कषोपला विवर्तन्ते, श्रेयः प्रेयोभिबाधते ।

देहस्थाने स्थितश्चात्मा, जाते सम्यक्त्वदर्शने ॥

देव ! सम्यक्त्व की प्राप्ति से जीवन में क्या रूपान्तरण होता है ?

विनेय ! उससे जीवन की कसौटियां बदल जाती हैं । मिथ्यादर्शन के समय प्रेय श्रेय को तिरोहित करता है, आत्मा देह से आवृत रहती है । सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रेय श्रेय के द्वारा तिरोहित हो जाता है और कर्तव्य की कसौटी श्रेय और आत्मा बन जाती है ।

अन्तरात्मा : बहिरात्मा

११२. बहिरात्मा तु सर्वत्र, शरीरमनुवर्तते ।

अन्तरात्मा शरीरञ्च, पुष्पात्यात्मानमीक्षते ॥

गुरुदेव ! बहिरात्मा और अन्तरात्मा में क्या अन्तर है ?

शिष्य ! बहिरात्मा सर्वत्र शरीर का अनुवर्तन करता है, अन्तरात्मा शरीर को पोषण देता है, किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर लगी रहती है ।

ज्ञान और क्रिया

११६. अवशेन्द्रियचित्तानां, हस्तिस्नानमिव क्रिया ।
दुर्भगाभरणप्रायो, ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥

भते ! क्या चित्त की निर्मलता के लिए ज्ञान और क्रिया—
दोनों जरूरी हैं ?

वत्स ! हां, दोनों जरूरी हैं । जिसके इन्द्रियां और मन वश
में नहीं हैं, उसका आचरण हाथी के स्नान की तरह होता है ।
हाथी पानी में नहाता है, बाहर आते ही सूंड से कीचड़ उछाल
कर अपने शरीर को भर लेता है । इसी प्रकार आचरण के
बिना ज्ञान कुरूप व्यक्ति के आभरण के समान भारभूत होता है ।

आत्मदर्शी

११७. सत्यं साक्षात्कृतं येन, स हि सत्याग्रही भवेत् ।
आत्मा साक्षात्कृतो येन, स एवात्मनि जीवति ॥

शिष्य का प्रश्न था—सत्याग्रही कौन होता है और आत्म-
जीवी कौन होता है ?

आचार्य का उत्तर था—जिसने सत्य का साक्षात्कार कर
लिया है, वही सत्याग्रही हो सकता है और जिसने आत्मा का
साक्षात्कार कर लिया है, वही आत्मजीवी होता है—आत्मा में
जीता है ।

११८. आत्मदर्शी जनश्चैव, त्यागीन्द्रियजयी भवेत् ।
अनात्मदर्शिनो लोकः, भिन्नः स्यादात्मदर्शिनः ॥

आत्मदर्शी व्यक्ति ही त्यागी और इन्द्रियजयी हो सकता है ।
आत्मदर्शी का लोक अनात्मदर्शी के लोक से भिन्न होता है ।

दोहरी मूर्खता

११६. संयमश्चित्तशुद्धिश्च, बन्धः कर्मरसो मतः ।
प्रथमं बालभावं यः, त्यजेत् त्यजति सोऽपरम् ॥

भंते ! मनुष्य गलती करता है, फिर वह उसे छिपाता है ।
यह उसकी दोहरी मूर्खता है । उससे कैसे बचा जा सकता है ?

शिष्य ! उसके चार उपाय हैं—संयम, चित्त-शुद्धि, कर्म-
बन्ध और उसके फल के प्रति जागरूकता । जो पहली
बालभाव-मूर्खता—अज्ञानजन्य मूर्खता को छोड़ देता है, वह दूसरी
मूर्खता को भी छोड़ देता है ।

अहिंसा का शस्त्र

१२०. अग्रतः चतुरो वेदाः, पृष्ठतः सशरं धनुः ।
अहिंसा पुरतः शस्त्रं, पृष्ठतः शस्त्रमायसम् ॥

जब महर्षि परशुराम चलते थे तब उनके आगे-आगे चार वेद
और पीछे-पीछे बाण संघा हुआ धनुष चलता था । आचार्यश्री
तुलसी ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहते हैं कि आगे
अहिंसा का शस्त्र रहे और लोह का शस्त्र पीछे रहे । इसका
तात्पर्य है कि जीवन में शस्त्र की प्रधानता न हो, अहिंसा की
प्रधानता हो । यही अहिंसा की प्रतिष्ठा का सूत्र है ।

सार क्या है ?

१२१. तृप्तिदं स्वास्थ्यदं शश्वद्, चेतःप्रसत्तिकारकम् ।
शक्तिदं शान्तिदं पूतं, सारमित्यभिधीयते ॥

गुरुदेव ! इस असार संसार में सार किसे कहा जाए ?

वत्स ! जो सदा तृप्ति देने वाला है, स्वास्थ्य देने वाला है, चित्त को प्रसन्न करने वाला है, शक्ति देने वाला है, शान्ति देने वाला है और जो पवित्र है, उसे सार कहा जाता है ।

कौन कब ?

१२२. ज्ञानिनां पर्षदि प्रायो, मौनमज्ञानिनो वरम् ।
अज्ञानिनां समक्षे तु, ज्ञानी भवति मौनभाक् ॥

भंते ! ज्ञानी को मौन कब रहना चाहिए और अज्ञानी को मौन कब रहना चाहिए ?

शिष्य ! ज्ञानियों की सभा में अज्ञानी का मौन रहना अच्छा है और अज्ञानियों के सामने ज्ञानी का मौन हो जाना अच्छा है ।

१२३. अज्ञानं स्वस्य यत्राऽस्ति, तत्र मौनं हि शोभनम् ।
विवादो वर्धते यत्र, मौनं तत्राऽतिशोभनम् ॥

जहां स्वयं का अज्ञान झलकता हो वहां मौन होना ही अच्छा है । जहां विवाद बढता हो वहां मौन होना बहुत अधिक अच्छा है ।

विभिन्नमतयो लोकाः

१२४. यथार्थग्राहिणः केचित्, केचिदऽस्थिरबुद्धयः ।
केचिदाग्रहिणो लोकाः, कदाग्रहपराः परे ॥
१२५. विभिन्नमतयो लोका, इति सत्यं सनातनम् ।
सर्वेषां तुल्यता वत्स !, व्यवहारे न सम्मता ॥

शिष्य गुरु की उपासना में बैठा था । उसने जिज्ञासा की—
भंते ! व्यवहार में सबकी समानता नहीं है, ऐसा क्यों ?

आचार्य ने कहा—वत्स ! कुछ लोग यथार्थग्राही होते हैं तो कुछ अस्थिर बुद्धि वाले होते हैं । कुछ आग्रही होते हैं तो कुछ कदाग्रह में तत्पर रहते हैं । यह सनातन सत्य है कि लोग भिन्न-भिन्न मति वाले होते हैं, इसलिए व्यवहार में सबकी समानता सम्मत नहीं है ।

भाव और भाषा

१२६. भावोऽन्तर्विद्यते पुंसां, भाषा व्यक्ति नयत्यमुम् ।
द्वयोरपि सुधाभावं, प्राप्तः कश्चिन्महामनाः ॥

भंते ! भाव कहां रहते हैं ? उन्हें प्रगट कौन करता है ?
वत्स ! भाव मनुष्य के अन्तर्जगत् में रहते हैं, भाषा उनको अभिव्यक्ति देती है ।

भंते ! क्या भाव और भाषा दोनों अच्छे ही होते हैं ?
वत्स ! कभी भाव अच्छा होता है, भाषा अच्छी नहीं होती । कभी भाषा अच्छी होती है, भाव अच्छा नहीं होता

भाव और भाषा अमृतमय हो, ऐसा संयोग किसी महामना को ही प्राप्त होता है ।

तब आदमी जागता है

१२७. संकल्पो नाम जागति, जागति मानवस्तदा ।

असंकल्पे क्व साफल्यं, क्व संकल्पे तथा परम् ॥

गुरुदेव ! मनुष्य कब जागता है ?

शिष्य ! भीतर में जब संकल्प जागता है तब आदमी जागता है—उसकी कार्य-शक्ति जाग जाती है । बिना संकल्प के सफलता कहां है और संकल्प में असफलता कहां है ?

दुर्लभ : सुलभ

१२८. प्रमोदो दुर्लभो लोके, ईर्ष्याऽरित सुलभा नृणाम् ।

गुणे संभागिता नेष्टा, दोषे संभागिता प्रिया ॥

प्रभो ! मनुष्य के लिए दुर्लभ क्या है ? सुलभ क्या है ?

वत्स ! प्रमोद भावना—दूसरों की विशेषता देखकर प्रमुदित होना मनुष्य के लिए दुर्लभ है और ईर्ष्या सुलभ है ।

मनुष्य की प्रकृति विचित्र है । वह गुण में संभागी होना नहीं चाहता, दोष में संभागी होना उसे प्रिय लगता है ।

श्रुत की परम्परा

१२९. अविच्छिन्ना चिरं भूयात्, श्रुतज्ञानपरम्परा ।

आचार्यस्येति दायित्वं, तथा चिन्ता तथा कृतिः ॥

भते ! श्रुतज्ञान की परम्परा चिरंजीवी कैसे रह सकती है ?
 वत्स ! श्रुतज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न और चिरकालिक रहे, यह आचार्य का दायित्व है । वे उसके लिए वैसा चिन्तन और वैसा कार्य करते हैं ।

श्रुत क्यों ?

१३०. श्रुतेन जायते पुंसां, व्युद्ग्रहस्य विमोचनम् ।
 ज्ञानं यथार्थभावानां, तेनाऽध्ययनमाश्रितम् ॥

गुरुदेव ! श्रुत से क्या प्राप्त होता है ?
 भद्र ! श्रुत से कलह का विमोचन होता है, यथार्थभावों का ज्ञान होता है, इसलिए श्रुत का आलम्बन लिया गया है ।

वचन की सम्पदा

१३१. आदेयं वचनं पुण्यं, मधुरं वचनं तथा ।
 अनिश्चितमसंदिग्धं, एषा वचनसंपदा ॥

आर्यवर ! वचन की सम्पदा क्या है ?
 वत्स ! आदेय वचन बोलना, पवित्र वचन बोलना, मधुर वचन बोलना, अनिश्चित विषय में अनिश्चित बोलना, निश्चित विषय में असंदिग्ध बोलना—यह सब वचन की संपदा है ।

सत्य के दो प्रकार

१३२. अस्तिसत् वाग्गतं सत्यं, तत्सापेक्षमुदीरितम् ।
 वाचा यत् प्रतिपाद्यं स्यात्, निरपेक्षं भवेन्न तत् ॥

भंते ! सत्य के कितने प्रकार हैं ?

वत्स ! सत्य के दो प्रकार हैं—अस्तित्व सत्य और वाणीगत सत्य । वाणी के द्वारा जो प्रतिपाद्य होता है वह सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं होता ।

सुख के प्रकार

१३३. अनुभूतौ सुखं तस्य, हेतवः पुद्गला अमी ।
सुखं निर्हेतुकं शश्वद्, आत्मभावे प्रतिष्ठितम् ॥

आर्य ! सुख के कितने प्रकार हैं ?

वत्स ! उसके दो प्रकार हैं—पौद्गलिक और आत्मिक । पौद्गलिक सुख की अनुभूति में पुद्गल हेतु बनते हैं । आत्मिक सुख निर्हेतुक होता है । वह शाश्वत रहता है ।

सुख किसमें ?

१३४. कस्याऽस्ति सुखमाहारे, परस्याऽभोजने सुखम् ।
सुखस्य चास्ति नानात्वं, भोगे त्यागे तथैव च ॥

कोई भोजन करने में सुख मानता है, कोई भोजन छोड़ने में सुख मानता है । सुख की अनुभूति के नाना प्रकार हैं । कहीं सुख भोग से जुड़ा होता है और कहीं त्याग से ।

आत्मकर्तृत्ववाद

१३५. कर्तृत्वं नात्मनश्चास्ति, कर्मणः किं प्रयोजनम् ।
कर्तृत्वमात्मनश्चेत् स्यात्, कर्म तत्सार्थकं भवेत् ॥

भंते ! कर्मों का प्रयोजन कब होता है ?

वत्स ! यदि आत्मा का कर्तृत्व न हो तो कर्मों का प्रयोजन ही क्या ? यदि आत्मा का कर्तृत्व माना जाता है तो कर्म का सिद्धांत साथक होता है ।

१३६. प्रधानमात्मकर्तृत्वं, प्राधान्यं नैव कर्मणः ।

आत्मकर्तृत्ववादी हि, सिद्धान्त आत्मवादिनाम् ॥

भंते ! प्रधानता कर्तृत्व की होती है अथवा कर्म की ?

वत्स ! आत्मा का कर्तृत्व ही प्रधान है, कर्मों की प्रधानता नहीं है । आत्मवादी दर्शनों का सिद्धांत है—आत्मकर्तृत्ववाद । कर्मवाद उसका अनुवर्ती सिद्धांत है ।

मुख्य कौन—ज्ञान या आचार ?

१३७. ज्ञानं मुख्यं प्रभो ! यद्वा, मुख्य आचार उच्यते ।

द्वयोस्तुला न गौणत्वं, मुख्यत्वं कस्यचिद् भवेत् ॥

प्रभो ! ज्ञान मुख्य है अथवा आचार ?

शिष्य ! दोनों तुल्य हैं । उनमें न किसी की मुख्यता है और न किसी की गौणता ।

१३८. ज्ञानमाचारशून्यं तु, पत्रादिविकलस्तरुः ।

आचारो ज्ञानशून्यस्तु, मूलशून्यः स कल्प्यते ॥

गुरुदेव ! क्या कोरा ज्ञान अथवा कोरा आचार आपकी दृष्टि में सम्मत है ?

वत्स ! नहीं, आचारशून्य ज्ञान वीसा ही है जैसे पत्ते, फूल

आदि के बिना वृक्ष और जानशून्य आचार वैसे ही है जैसे मूल [जड़] के बिना वृक्ष ।

१३६. ज्ञानं मूलं रसस्रोतः, आचारः फलमिष्यते ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च, तथौदासीन्यमुच्छ्रितम् ॥

भंते ! ज्ञान और आचार में मूल क्या है और फल क्या है ?

वत्स ! ज्ञान मूल है । वह रस का स्रोत है । आचार उसका फल है । प्रवृत्ति, निवृत्ति और औदासीन्य—ये सब फल के नाना-रूप हैं ।

अनेकान्तवाद

१४०. द्वैतवादस्य सांगत्यं, नाऽनेकांतं विना भवेत् ।
भेदः स्वभावजो मान्यः, सहावस्थानजो नैव ॥

विभो ! क्या द्वैतवाद और अनेकान्त में कोई संबन्ध है ?

वत्स ! अनेकान्त के बिना द्वैतवाद की संगति नहीं होती । भेद स्वभाव से मान्य होता है, पर सहावस्थान और भेद—ये दोनों एक साथ अनेकान्त के द्वारा ही मान्य होते हैं ।

भाषाविवेक

१४१. आग्रहो नैव नो माया, नो हिंसा नाऽहितं भवेत् ।
नो निश्चयः संदिहाने, परीक्षाऽसौ वचोगता ॥

गुरुदेव ! बोलने में कितन बातों का विवेक जरूरी है ?

वत्स ! बोलने में न तो आग्रह हो और न माया हो । वचन ऐसा भी न हो जिससे किसी की हिंसा और अहित होता हो । वह संदिग्ध विषय में निश्चयात्मक न हो । ये सब वाणी की कसौटियां हैं ।

सब कुछ कहा नहीं जाता

१४२. अवक्तव्यः पदार्थश्चाऽनेकधर्मात्मको यतः ।

एतत् पदार्थमीमांसाक्षेत्रे व्यवहृतं भवेत् ॥

१४३. अवक्तव्यमिदं दृष्टं, श्रुतं सर्वं न कथ्यताम् ।

एतदाचारमीमांसाक्षेत्रे स्यादुपयोजितम् ॥

शिष्य—भगवन् ! क्या सब कुछ कहा जा सकता है ?

आचार्य—नहीं, अवक्तव्य के दो क्षेत्र हैं—पदार्थमीमांसा और आचारमीमांसा । पदार्थ अनेक धर्मात्मक होता है । सब धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता, इसलिए वह अवक्तव्य है । पदार्थ-मीमांसा के क्षेत्र में यह अवक्तव्य व्यवहृत होता है ।

सब कुछ देखा हुआ और सब कुछ सुना हुआ कहना नहीं चाहिए । यह आचारक्षेत्रीय अवक्तव्य है ।

पुरुषार्थ चतुष्टय

१४४. कामो नो बाधते योऽर्थं, सोऽर्थः कामं न बाधते ।

धर्मं न बाधते तौ च, धर्मश्च तौ न बाधते ॥

शिष्य—गुरुदेव ! पुरुषार्थ के चार अंग हैं—काम, अर्थ,

धर्म और मोक्ष । इनमें परस्पर विरोध है । ये एक दूसरे को बाधित करते हैं । क्या इस विरोध का परिहार किया जा सकता है ?

वत्स ! हां, इस विरोध का परिहार करने के लिए वैदिक चिंतन में सीमा का निर्धारण किया गया है—काम का पुरुषार्थ उतना ही वांछनीय है जो अर्थ को बाधित न करे । अर्थ का पुरुषार्थ उतना ही वांछनीय है जो काम को बाधित न करे । काम और अर्थ का पुरुषार्थ उतना ही वांछनीय है जो धर्म को बाधित न करे और धर्म का पुरुषार्थ उतना ही वांछनीय है जो काम और अर्थ को बाधित न करे ।

१४५. न बाधां जनयन्त्येते, परस्परमबाधिताः ।

वैदिको व्यवहारोऽयं, पुरुषार्थचतुष्टये ॥

आचार्य ने पुनः कहा—ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर अबाधित होकर बाधा उत्पन्न नहीं करते । यह पुरुषार्थ चतुष्टय के विषय में वैदिक व्यवहार है ।

धर्म के दो रूप

१४६. उपादानस्य दृष्ट्यात् तु, धर्मोऽसौ शाश्वतो मतः ।

धर्मस्य नियमास्तावत्, भवन्ति परिवर्तिताः ॥

भंते ! धर्म शाश्वत है या अशाश्वत ?

वत्स ! उपादान की दृष्टि से धर्म शाश्वत है । धर्म के नियम परिवर्तित होते हैं, बदलते रहते हैं । अतः नियम की दृष्टि से वह अशाश्वत भी है ।

१४७. विशुद्धिश्चेतनायाश्च, वीतरागदशाऽथवा ।

उपादानञ्च धर्मस्य, सम्मतं निश्चये नये ॥

भंते ! वह उपादान क्या है ?

वत्स ! वह उपादान है—चेतना की विशुद्धि या वीतराग-दशा । निश्चय नय में धर्म का यही उपादान सम्मत है ।

उपासना क्यों ?

१४८. आत्मबोधो विकासश्च, गुणानां जायते यतः ।

परिष्कारः समाधिश्च, सा नामोपासना भवेत् ॥

प्रभो ! उपासना का महत्त्व क्यों है ?

वत्स ! ज्ञानी की उपासना करने से आत्मबोध प्राप्त होता है, गुणों का विकास होता है, वृत्तियों का परिष्कार होता है और समाधि मिलती है । जिससे ये सब प्राप्त होते हैं उसका नाम है उपासना—ज्ञानी की सन्निधि में रहना ।

जमोक्कारो परमं मंगलं

१४९. मंगलं ज्ञानमेवाऽस्ति, मंगलं दर्शनं तथा ।

मंगलं परमानन्दः, मंगलं शक्तिरुच्यते ॥

गुरुदेव ! नमस्कार महामन्त्र सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल क्यों है ?

शिष्य ! ज्ञान मंगल है । दर्शन मंगल है । परम आनन्द मंगल है और शक्ति मंगल है । इस महामन्त्र में इन चारों का समावेश है, इसलिए यह श्रेष्ठ मंगल है, सब पापों का नाश करने वाला है ।

१५०. ज्ञानायाऽस्तु नमः पुण्यं, दर्शनाय नमोनमः ।
आनन्दाय नमस्तत् स्यात्, शक्तये मंगलं परम् ॥

भन्ते ! नमस्कार किसे और क्यों करना चाहिए ?

वत्स ! ज्ञान को नमस्कार, दर्शन को नमस्कार, आनन्द को नमस्कार और शक्ति को नमस्कार, क्योंकि ये सब उत्कृष्ट मंगल हैं ।

तंत्र : मंत्र

१५१. तन्त्रं मन्त्रेण संयुक्तं, स्वतन्त्रान् जनयेज्जनान् ।
तन्त्रं मन्त्रविहीनं तु, यन्त्राण्युत्पादयेच्चिरम् ॥

विभो ! क्या तन्त्र का मन्त्रयुक्त होना अनिवार्य है ?

वत्स ! हां, जो तन्त्र [शासन] मन्त्र—मननशक्ति [रहस्यपूर्ण शक्ति] से संयुक्त होता है वह मनुष्यों को स्वतन्त्र बनाता है । जो तन्त्र मन्त्र-शक्ति से विहीन होता है वह मनुष्य को यन्त्र बनाता है—परतन्त्र बनाता है ।

तुलसी का गौरव

१५२. गुरुर्भवेद् यदि गुरुः, तुलसीसदृशो भवेत् ।
हिताय येन शिष्याणां, जीवनं सुसर्मापितम् ॥

गुरु यदि गुरु हो तो वह आचार्य तुलसी जैसा हो, जिन्होंने शिष्यों के हित के लिए जीवन को सुसर्मापित किया है ।

१५३. गगनं गगनाकारं, सागरः सागरोपमः ।
गुरुगौरवसीमायां, तुलसी तुलसीसमः ॥

आकाश आकाश के आकार वाला होता है और समुद्र समुद्र के सदृश होता है। गुरुगौरव की सीमा में आचार्यश्री तुलसी तुलसी के समान हैं—उपमातीत हैं।

१५४. सौभाग्यं साहसं शक्तिः, तेजः कारुण्यमद्भुतम् ।
ज्ञानं भक्तिश्च निर्माणं, संहतौ तुलसी भवेत् ॥

सौभाग्य, साहस, शक्ति, तेज, अद्भुत करुणा, ज्ञान, भक्ति और निर्माण—इन सबकी संहति का नाम है आचार्यश्री तुलसी।

अध्यात्म की चतुष्पदी

१५५. द्रष्टाभावः सत्यनिष्ठा, प्रतिकूलसहिष्णुता ।
आस्था स्वभावनिर्माणे, स्यादध्यात्मचतुष्पदी ॥

गुरुदेव ! अध्यात्म क्या है ?

वत्स ! उसके चार पद हैं—द्रष्टाभाव, सत्यनिष्ठा, प्रतिकूल परिस्थिति को सहन करना तथा साथ-साथ अनुकूल परिस्थिति को भी सहना और परिवर्तनीय स्वभाव को बदलने तथा नए स्वभाव के निर्माण में आस्था—यह अध्यात्म की चतुष्पदी है।

सुख-दुःख का मूल

१५६. सुखं दुःखं तयोर्मूलं, विचारश्च वरावरः ।
तयोर्मूले स्थितो भावः, अन्तःशुद्धस्तथेतरः ॥

भन्ते ! सुख-दुःख का मूल कारण क्या है ?

शिष्य ! सुख का मूल कारण है—प्रशस्त विचार और दुःख

का मूल कारण है—अप्रशस्त विचार । उन दोनों के मूल में है भीतर में स्थित भाव । वह शुद्ध और अशुद्ध—दोनों प्रकार का होता है ।

अध्यात्म का सूत्र

१५७. आचारो व्यवहारश्च, भावचित्तनसंभवः ।

असौ स्यादात्मनः प्रेक्षा, स्यादऽध्यात्ममिदं महत् ॥

भन्ते ! अध्यात्म का सूत्र क्या है ?

वत्स ! अपने आपकी प्रेक्षा करना—अपने आपको देखना, इसका नाम है अध्यात्म । आचार और व्यवहार के दो स्रोत हैं—भाव और चिन्तन । कौनसा आचार और व्यवहार किस भाव और चिन्तन से उपजा है, इसकी सूक्ष्मता से प्रेक्षा करना अध्यात्म का महान् सूत्र है ।

स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र

१५८. आस्थाबन्धो विवेकश्च, संकल्पश्च मनोबलम् ।

मनुष्ये तेन सामर्थ्यं, स्वभावपरिवर्तने ॥

प्रभो ! स्वभाव-परिवर्तन के सूत्र क्या हैं ?

वत्स ! वे सूत्र हैं—आस्थाबन्ध [सुदृढ आस्था], विवेक, संकल्प और मनोबल । ये चार विशेषताएं ही मनुष्य में स्वभाव-परिवर्तन का सामर्थ्य पैदा करती हैं ।

मानसिक संतुलन के घटक

१५६. सतर्कता विचारश्च, व्यवहारो मनोदशा ।

मनःसंतुलनस्यैते, चत्वारो घटकाः स्मृताः ॥

आर्यवर ! मन-संतुलन के घटक कौनसे हैं ?

वत्स ! उसके चार घटक हैं—जागरूकता, विचार, व्यवहार और मानसिक दशा ।

हृदय-परिवर्तन

१६०. कस्य कः परिणामः स्यात्, क्रिया चाप्यनियन्त्रिता ।

धारणा क्रियते मिथ्या, मनोदशाप्यसंयता ॥

१६१. जायतेऽस्यामवस्थायां, दुष्करं परिवर्तनम् ।

क्रियाविपाकयोश्चिन्ता, हृदयं परिवर्तयेत् ॥

गुरुदेव ! किस अवस्था में वृत्ति का परिवर्तन कठिन है और उसे बदलने की भूमिका क्या हो सकती है ?

वत्स ! किस क्रिया का क्या परिणाम होता है, इसका निश्चय न हो और किस परिणाम की हेतुभूत क्रिया क्या होती है यह भी अनिश्चित हो तथा कर्म और उसके परिणाम की धारणा मिथ्या हो और मनोदशा भी संयत न हो—इस अवस्था में वृत्ति का परिवर्तन होना कठिन प्रतीत होता है ।

क्रिया और उसके विपाक का चिन्तन हृदय-परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

दिग्गज कैसे ?

१६२. आलानं स्यात् निबन्धाय, सदाचारकृतेऽङ्कुशः ।

सद्गजः दिग्गजः स्वामिन् ! भूयासं तेऽनुभावतः ॥

हाथी को बांधने का स्थान है आलान और उसको नियन्त्रित करने का साधन है अंकुश । मानसिक व्यवस्था के लिए आलान और सदाचार के लिए अंकुश प्राप्त कर मैं दिग्गज—श्रेष्ठ हस्ती बनूँ । स्वामिन् ! इस कार्य में आपका अनुग्रह बहुत अपेक्षित है ।

००

अनुशासन के सूत्र

मर्यादा का आधार

१. संविभागः समभावः, सौहार्दं च परस्परम् ।

व्यवस्था कलहान्मुक्तिः, मर्यादाचारशुद्धये ॥

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ धर्मसंघ में संविभाग, समभाव, पारस्परिक सौहार्द, व्यवस्था, कलह-निवारण और आचारशुद्धि के लिए मर्यादाओं का निर्माण किया ।

तेरापंथ का नेतृत्व

२. अवीतरागलोकेऽस्मिन्, वीतरागप्रकल्पिता ।

नेतृत्वस्य व्यवस्थेयं, विहिता भिक्षुणा वरा ॥

आचार्य भिक्षु ने इस अवीतराग लोक में वीतराग द्वारा प्रकल्पित नेतृत्व की श्रेष्ठ व्यवस्था का सूत्रपात किया ।

छोटा कौन ? बड़ा कौन ?

३. नो हीनो न विशिष्टोऽस्ति, निश्चयप्रतिपादनम् ।

हीनः स्यादतिरिक्तोऽपि, व्यवहारनयस्थितौ ॥

गुरुदेव ! आचारांग का सूक्त है—‘नो हीणे नो अइरित्ते’—
न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त । क्या इन दोनों वचनों
में परस्पर विरोधाभास नहीं है ?

वत्स ! न कोई हीन है और न कोई विशिष्ट हैं—यह
निश्चय नय का प्रतिपादन है । व्यवहार नय की स्थिति में हीन
और विशिष्ट—दोनों होते हैं ।

धर्म और शासन

४. धर्मशासनयोर्भेदोऽभेदः सम्यग् विवक्षितः ।
धर्मो वैयक्तिकोऽपि स्यात्, शासनं सामुदायिकम् ॥

भन्ते ! क्या धर्म और शासन में कोई भेद है ?

शिष्य ! उनमें भेद भी है और साथ-साथ अभेद भी । भेद यह है—धर्म वैयक्तिक भी होता है और शासन सामुदायिक ।

संगठन के सूत्र

५. विचारः सम्यगाचारः, व्यवस्थेति त्रयी मता ।
गणस्य श्रेयसे तेन, मतिस्तत्र निविश्यताम् ॥

संगठन के तीन आधार हैं—सम्यग् आचार, सम्यग् विचार और सम्यग् व्यवस्था । ये तीनों संघ के लिए श्रेयस् हैं, इसलिए मतिमान् व्यक्ति को अपनी मति उनमें निविष्ट करनी चाहिए ।

पहली शताब्दी का तेरापंथ

६. जागरूकत्वमुन्नीतं, धारणा परिर्वतिता ।
प्रोत्साहिता मनोभावाः, संघेनैकात्मतां गताः ॥

तेरापंथ की पहली शताब्दी जागरूकता का उन्नयन, धारणाओं में बदलाव और संघ के साथ एकात्मकता करने वाले मनोभावों को प्रोत्साहित करने की थी ।

अहंकार-विसर्जन

७. अहंकारस्य विलयः, विनीतस्याऽस्ति लक्षणम् ।

यदा जागर्त्यऽहंकारस्तदा स्वपिति नम्रता ॥

अहंकार का विलय करना विनीत का लक्षण है। जब अहंकार जागता है तब विनम्रता सो जाती है।

८. अहंकारो विनीतत्वं, द्वयं नैकत्र तिष्ठति ।

साधुत्वं विद्यते तत्र, यत्राऽहंकारसंक्षयः ॥

अहंकार और विनीतता—ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। जहाँ साधुता है वहाँ अहंकार नहीं टिकता, उसका क्षय हो जाता है।

९. साधुत्वं च विनीतत्वं, भिन्नं नैवास्ति वस्तुतः ।

एकः सार्धुर्विनीतो नो, दुश्श्रद्धेयमिदं वचः ॥

वास्तव में साधुता और विनीतता भिन्न नहीं है। कोई साधु है और विनीत नहीं है तो यह वचन दुश्श्रद्धेय है—इस पर श्रद्धा करना बहुत कठिन है।

अनुशासन का पालन

१०. उपादेये स्थिरा बुद्धिः, हेयं यो हातुमिच्छति ।

संयमो नियमो लब्धः, स स्पृशत्यनुशासनम् ॥

गुरुदेव ! अनुशासन का पालन कौन कर सकता है ?

वत्स ! जिसकी बुद्धि उपादेय के प्रति स्थिर है, जो हेय को

छोड़ना चाहता है तथा जो संयम और नियम को उपलब्ध है, वह अनुशासन का पालन कर सकता है ।

११. धृतिः सहिष्णुता शक्तिरात्मविश्वाससंपदा ।

यस्मिन्नेते गुणाः सन्ति, स स्पृशत्यनुशासनम् ॥

जिसके जीवन में धृति, सहिष्णुता, शक्ति और आत्मविश्वास की सम्पदा—ये चार गुण होते हैं, वह अनुशासन का पालन कर सकता है ।

मान्य कौन ?

१२. कश्चिदर्थकरो भव्यः, कश्चिद् मानकरो भवेत् ।

कश्चिद् द्वयप्रवृत्तः स्यात्, कश्चिद् द्वयपराङ्मुखः ॥

कोई शिष्य प्रयोजन सिद्ध करने वाला होता है और कोई मानी होता है । किसी में ये दोनों होते हैं और कोई इन दोनों से पराङ्मुख होता है ।

१३. साधयेद् यो गणस्यार्थं, स श्रेयान् सम्मतो भवेत् ।

अमानी मन्यते सर्वैः, न मतो मानकृद् भवेत् ॥

जो साधु गण के प्रयोजन को सिद्ध करता है वह गण में श्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में मान्य होता है । सब लोग अमानी को ही मान्य करते हैं, सम्मान देते हैं । अहंकारी को कोई मान्य नहीं करता, वह सम्मत नहीं होता ।

अनुशासन की त्रिपदी

१४. आत्मानुशासकः कश्चित्, कश्चित् परानुशासकः ।
द्वयानुशासको युक्तः, गणसन्ततिवृद्धये ॥

कोई मुनि आत्मानुशासी होता है, कोई परानुशासी होता है । जो अपने और पराए—दोनों पर अनुशासन कर सकता है वह गण-परम्परा की वृद्धि के लिए उपयुक्त माना जाता है ।

गण का संवर्धन

१५. शिष्याः प्रोत्साहनं नेयाः, कार्यं वर्धापनं वरम् ।
आचार्यस्य सहिष्णुत्वमिदं संवर्धयेद् गणम् ॥

भन्ते ! गण का संवर्धन कैसे हो सकता है ?
शिष्य ! आचार्य शिष्यों को प्रोत्साहन दें, उनके अच्छे कार्यों का वर्धापन करें । आचार्य की यह सहिष्णुता गण का संवर्धन करती है ।

प्रशिक्षण

१६. उपायः परिवर्तस्य, प्रशिक्षणमिदं ध्रुवम् ।
प्रवृत्ताऽसौ गणे भिक्षोः, प्रशिक्षणपरम्परा ॥

गुरुदेव ! व्यक्ति के परिवर्तन का उपाय क्या है ?
वत्स ! परिवर्तन का उपाय है—निरन्तर प्रशिक्षण का चलते रहना । प्रशिक्षण की यह परम्परा भिक्षवगण में चालू है ।

१७. चतुष्पदी विनीतस्याऽविनीतस्य विनिर्मिता ।
अनुशासनदीक्षायां, सर्वे शिष्याः प्रशिक्षिताः ॥

भन्ते ! आचार्य भिक्षु ने अपने शिष्यों को किस आधार पर प्रशिक्षित किया ?

वत्स ! आचार्य भिक्षु ने विनीत और अविनीत की चौपाई का निर्माण किया । उसके आधार पर उन्होंने अपने सभी शिष्यों को अनुशासन की दीक्षा से दीक्षित कर प्रशिक्षित किया ।

१८. जयाचार्येण संपुष्टा, सैव पुण्या परम्परा ।

अह्नाऽपि संप्रधार्या सा, गणिता गणसिद्धये ॥

उसी पुण्य परम्परा को जयाचार्य ने संपुष्ट किया । आज भी गण की सुव्यवस्था के लिए आचार्य उसी परम्परा का अनुसरण करते हैं ।

संघीय और वैयक्तिक प्रवृत्तियां

१९. सेवा श्रमस्तथा यात्रा, क्षेत्राणां पर्यवेक्षणम् ।

लोकानां संग्रहश्चैताः, संघवृत्ताः प्रवृत्तयः ॥

आर्यवर ! संघ के लिए कौन-कौनसी प्रवृत्तियां आवश्यक हैं ?

भद्र ! सेवा, श्रम, यात्रा, क्षेत्रों की सार-संभाल और नए लोगों का संग्रह—ये सब संघ की प्रवृत्तियां हैं ।

२०. तपसश्चरणं ध्यानं, स्वाध्यायस्तत्त्वसंग्रहः ।

निरीक्षा स्वात्मनश्चैता, व्यक्तिवृत्ताः प्रवृत्तयः ॥

भन्ते ! वैयक्तिक प्रवृत्तियां कौन-कौनसी हैं ?

भद्र ! तपस्या, ध्यान, स्वाध्याय, तत्त्व का संग्रह और आत्म-निरीक्षण—ये सब व्यक्तिगत प्रवृत्तियां हैं ।

धर्म का दर्शन और तत्त्व का निश्चय प्रज्ञा से होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रज्ञा इन्द्रियज्ञान से प्राप्त प्रत्ययों का विवेक करने वाली बुद्धि से परे का ज्ञान है।

जैन साहित्य में अनेक लब्धियां या ऋद्धियां वर्णित हैं। उन लब्धियों में एक लब्धि है — प्रज्ञा श्रमण। प्रज्ञा श्रमण मुनि अध्ययन किए बिना ही सर्वश्रुत का पारगामी होता है। वह चतुर्दशपूर्वी के प्रश्नों का भी समाधान दे सकता है।

अदृष्ट, अश्रुत और अनालोचित अर्थ जैसे ही सामने आता है वैसे ही उसका यथार्थ बोध हो जाता है। वह औत्पत्तिकी प्रज्ञा है।